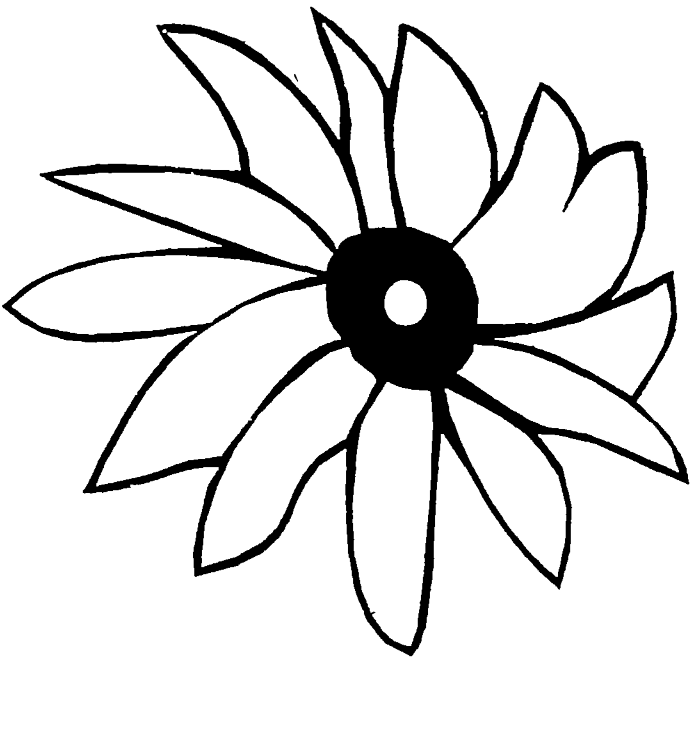
आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

जिज्ञासा के पंख
समाधान का आकाश



® आदर्श साहित्य संघ

स्वर्गीय लाला झण्डूमलजी जैन की पुण्य स्मृति मे उनके सुपुत्र
श्री तिलकराज जैन एव पौत्र श्री पवनकुमार अभयकुमार जनकराज
गुणपाल जैन, जगरावा (पजाव) के सौजन्य से

प्रकाशक · कमलेश चतुर्वेदी, प्रवन्धक · आदर्श साहित्य सघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य पैंतीस रुपये, प्रथम सस्करण १९९७ / मुद्रक पवन प्रिटर्स, दिल्ली-३२

पुरोवाक्

प्रश्नव्याकरण–प्रश्नोत्तर साहित्य की एक सहज, सरल और सरस विधा है। यह प्रबुद्ध वर्ग और साधारण जन–दोनो के लिए उपयोगी है। इसमे प्रतिपाद्य विषय पर सीधा प्रकाश पडता है, इसलिए इसे कोई भी समझ सकता है। प्रश्न तब होता है, जब व्यक्ति का मन जिज्ञासाओ से भर जाता है। जिज्ञासा के लिए कोई तटवन्ध नहीं होता। वह विचारो का उन्मुक्त प्रवाह है। खुला मैदान उपलब्ध हो जाए तो वह बहता ही रहता है। जिज्ञासा व्यक्ति को वहा ले जाती है, जहा उससे अधिक जानने वाला अथवा सब कुछ जानने वाला हो। जिज्ञासु व्यक्ति अपनी जानकारी के धरातल को ठोस बनाना चाहता है। वह किसी के सामने अपना मन खोलता है तो खोलता ही जाता है। समाधान देने वाले का अपना दृष्टिकोण होता है। पूछे गए प्रश्न का पूरा उत्तर एक बार मे मिल जाए, यह आवश्यक नही है। इस दृष्टि से प्रश्नकर्ता को पुन पुन प्रश्न करने का अवकाश मिलता रहता है। प्रवचन, वक्तव्य, निवन्ध आदि में श्रोता या पाठक का अपना महत्त्व और उपयोग है।

जैन आगमो की सरचना साहित्य की किसी एक ही विधा से अनुवधित नहीं है। गद्य और पद्य–दोनो विधाओ मे प्रचुर साहित्य गुम्फित है। उक्त दोनो ही विधाओ मे प्रश्नोत्तरशैली को भी काम मे लिया गया है। पद्य साहित्य मे उत्तराध्ययन एक बहुचर्चित आगम रहा है। उसका नौवा और तेईसवा अध्ययन प्रश्नव्याकरण रूप मे है। भगवती सूत्र मे इस विधा का खुलकर उपयोग हुआ है। भगवान महावीर और गणधर गौतम के सवादो मे गहन तत्त्वदर्शन भरा है तो सामान्य ज्ञान के स्रोत भी वन्द नहीं है। सवादशैली के कारण भगवती सूत्र मे निहित जैन तत्त्वविद्या के गूढ रहस्य भी सहज और सुबोध वने हुए है।

प्रश्नोत्तरशैली मे सामान्यत प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता भिन्न-भिन्न

होते है। कई बार प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता की भूमिका एक ही व्यक्ति निभा लेता है। इस विधा का श्रीमज्जयाचार्य ने उपयोग किया है। 'तेरापथ मर्यादा और व्यवस्था' पुस्तक में उनकी एक रचना है 'शिक्षा री चौपी'। इस चौपी की १४वीं ढाल में शिष्य-गुरु का संवाद है। उदाहरण के रूप मे उसके कुछ पद्य यहा प्रस्तुत है–

शिष्य : हो जी स्वामी! सरणे आयो गणनाथ!
सीखड़ली आछी आपो म्हारा स्वाम!
हो जी स्वामी! परम उपकारी मुझ आप,
अविचल सुख थिर पद थापो म्हांरा स्वाम!

गुरु : हा रे चेला! सुविनीतां रो कीजै संग,
वारु जस-कीरति वाधे म्हारा शिष्य!
हां रे चेला! चरण समकित दिढ होय,
ज्ञानादिक वर गुण लाधे म्हांरा शिष्य!

शिष्य हो जी स्वामी! कोई अविनीत हित करै आय,
ललचावै मीठी बोली म्हारा स्वाम!
हो जी स्वामी! स्यूं करेवो गणनाथ।
आखीजे सीख अमोली म्हांरा स्वाम!

३६ पद्यों वाली इस ढाल मे गुरु के पास समाधान का खुला आकाश देखकर शिष्य अपनी जिज्ञासा के पंख खोलता ही चला गया। पूरा गीत रोचक और उपयोगी है। शिष्य के जीवन की छोटी-छोटी उलझनो को गुरु द्वारा सुलझाने का यह प्रयास साहित्यिक दृष्टि से जितना आकर्षक लगता है, व्यावहारिक धरातल पर उतना ही प्रायोगिक है। गुरु-शिष्य के बीच प्रश्नोत्तरो का सिलसिला अनायास ही शुरू हो जाता है, उन्हे संकलित करने के लिए आयास की अपेक्षा रहती है।

प्रस्तुत पुस्तक प्रश्नोत्तरो के सकलन की निष्पत्ति है। सकलन का श्रम साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा का है, पर सारे प्रश्न उसके नहीं है। अनेक प्रान्तो के अनेक वर्गो के लाखो लोगो के साथ मेरा संपर्क रहा है। उनकी जिज्ञासाओं का सामना करने के प्रसंग आते ही रहते है। प्रश्नो के विषय और स्तर अलग-अलग है, इसलिए समाधान की शैली मे भी एकरूपता नहीं है। कहीं साधारण रूप मे प्रश्नो को उत्तरित किया

गया है तो कहीं उनकी गभीरता के आधार पर गहरे उत्तर दिए गए हैं। कहीं यौक्तिक पद्धति से समाधान के क्षितिज खुले है तो कहीं मनोविज्ञान का सहारा लिया गया है। कुल मिलाकर इसमे धर्म, दर्शन, समाज, राजनीति, परम्परा, अणुव्रत आदि विभिन्न विषयो पर विभिन्न दृष्टियो से चिन्तन हुआ है।

प्रश्नोत्तर की विधा में प्रकाशित होने वाली यह प्रथम पुस्तक नहीं है। अणुव्रत को लेकर इस विधा मे अनेक पुस्तकें पाठकों तक पहुंची है। प्रेक्षाध्यान पर भी इसी विधा में एक पुस्तक है। विधा कोई भी हो, मूल बात है साहित्य को सुरुचिपूर्ण और जनभोग्य बनाना। लेखक और सम्पादक इस प्रतिबद्धता के साथ सामग्री परोसे तथा पाठक गंभीरता के साथ पढे, यह आवश्यक है।

समाज का पढा-लिखा वर्ग अखबार पढता है, उपन्यास भी पढता है। किन्तु उसे एक बार पढते ही वह पुराना हो जाता है। मेरे अभिमत से साहित्य ऐसा होना चाहिए, जो बार-बार पढने पर भी कुछ न कुछ नवीनता की अनुभूति कराता रहे। जिस साहित्य को पढकर कोई नई विचार तरंग आविर्भूत हो, वह साहित्य अपने प्रभाव को स्थापित कर सकता है। प्रश्नोत्तर विधा में लिखा गया साहित्य कोई नया सिद्धान्त प्रस्तुत करे या नहीं, उसकी प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न नहीं लग सकता। किस व्यक्ति का पूछा गया सवाल किस तक जवाब पहुंचा दे, यह कल्पना ही नहीं हो सकती।

'जिज्ञासा के पख · समाधान का आकाश' पुस्तक मे प्राय· सभी आयुवर्ग के जिज्ञासुओ के प्रश्न हैं। उनको समाहित करने मे मैंने अपने चिन्तन का उपयोग किया है। पाठक यह न सोचे कि मैंने जो उत्तर दे दिए, वे ही अन्तिम है। उन पर सापेक्ष दृष्टि से विचार करते हुए नए उत्तर भी खोजे जा सकते है। प्रस्तुत पुस्तक पाठको मे नई जिज्ञासाए और उनके समाधान हेतु नया आकाश पैदा करेगी, ऐसा विश्वास है।

तेरापथ-भवन
गगाशहर (राजस्थान)
मई १९९७

गुरुदेव तुलसी

संपादकीय

समाज को नई दृष्टि और नई दिशा देने वाले दो वर्ग है–सन्त और साहित्यकार। सन्त मुख्यत· जीवन की दिशा देते है। व्यक्ति मे क्षमता हो तो वह उससे सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक विकास के पथ भी खोज लेता है। साहित्यकार का सरोकार प्रमुख रूप से उन मूल्यो की प्रतिष्ठा से होता है, जिनके आधार पर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की चेतना जागृत रह सके। गहराई से देखा जाए तो सन्त और साहित्यकार–दोनो ही समाज के पथदर्शक है, जागरण का सन्देश देने वाले हैं और जीवनयात्रा मे आए अवरोधो को दूर करने वाले है।

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी भारत के ऐसे सन्त है, जिनके उदार दृष्टिकोण और सार्वभौम कार्यक्रमो ने उनको महान् युगद्रप्टा वना दिया। सीमा मे असीम और लघु मे विराट् कहीं देखना हो तो गुरुदेव के व्यक्तित्व मे देखा जा सकता है। जैन मुनि और तेरापथ के आचार्य की भूमिका पर खडे रहकर आपने अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवनविज्ञान और अहिसा-प्रशिक्षण जैसे सार्वभौम उपक्रमो का प्रवर्तन और मार्गदर्शन किया। इनके द्वारा लोककल्याण का जो धरातल वना, वह अपने आपमे विलक्षण है।

मनुष्य इस ससार का सवसे अधिक समस्या-संकुल प्राणी है। उसके सामने कुछ समस्याएं प्राकृतिक है, कुछ युगीन है, कुछ परिस्थितियो की सरजी हुई है और कुछ समस्याओ का स्रष्टा वह स्वय है। उसकी समस्याएं नए-नए मुखौटे लगाकर सामने आती है। वह एक समस्या से निपटने का प्रयास करता है, तव तक पांच नई समस्याए पैदा हो जाती है। वह सामने खड़ी समस्याओ का मुकावला करने की तैयारी करता है, उससे पहले उसके विचारो में कुछ अकल्पित समस्याओं के विम्व उभर आते

है। जीवन के अन्धेरों और उजालो के बीच मनुष्य कहीं भटकता है तो कहीं मजिल की ओर ले जाने वाली सही दिशा में प्रस्थान कर देता है।

सही दिशा और सही मार्ग उपलब्ध होने पर भी मनुष्य कभी कल्पित और कभी वास्तविक समस्याओं से घिरा रहता है। उनका समाधान पाने के लिए उसे किसी ऐसे महान व्यक्तित्व की जरूरत होती है, जो उसकी समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में समाहित कर सके। समस्याओ के दो रूप होते हैं–विचारगत और व्यवहारगत। दोनो प्रकार की समस्याओ के समाधान वैचारिक धरातल पर ही किए जाते है। विचारो को ही जीवन की प्रयोगशाला में उतारकर व्यावहारिक समाधान पाए जा सकते है।

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी के पास विचारो की अखूट सपदा है। वे नया सोचने और नया करने में विश्वास रखते है। इसलिए एक समस्या को अनेक प्रकार से समाहित करते हैं। समस्या रखने वाले बालक होते है तो वे बालको के अन्दाज मे बोलते है। युवको के प्रश्नो को उनके परिवेश मे उत्तरित करते है। वृद्धो की जिज्ञासाओ मे निहित अनुभवो की प्रौढत्ता का आकलन कर उन्हे वैसा ही धरातल देते है। साधको की समस्याओ को समाहित करते हुए वे साधना का ऐसा वातायन खोल देते है, जहां खडे रहने से ही आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

विधा की दृष्टि से कोई भी विषय सामने हो, गुरुदेव को उसके बारे मे अधिक सोचना नहीं पडता। धर्म और अध्यात्म की गभीर चर्चा हो या जीवन की हल्की-फुल्की उलझने, व्यावसायिक असदाचार की समस्याए हो या राजनैतिक अध पतन की घटनाए, युवापीढी की कठिनाइया हो या विद्यार्थियो का दिशाभ्रम, महिलाओ के शोषण से सम्बन्धित प्रसंग हो या पुरुषो के अह का पोषण, पारिवारिक बिखराव के सम्बन्ध मे प्रश्न हो या सामाजिक हितो की जोडतोड, साधु-सस्थाओ के भविष्य की चिन्ता हो या श्रावक समाज के विकास का चिन्तन, परस्मैपदम् की भाषा मे वोलना हो या आत्मनेपद का प्रयोग करना हो, गुरुदेव की चिन्तनधारा कहीं रुकती नही है। वह जिस दिशा मे प्रवाहित होती है, बिना रुके बहती रहती है।

'जिज्ञासा के पख . समाधान का आकाश' गुरुदेव के मुक्त रूप

में अभिव्यक्त विचारो का ऐसा ही सकलन है, जिसके द्वारा सैकडो जिज्ञासुओ को समाधान की सही दिशा उपलब्ध हुई है। प्रश्नव्याकरण का यह सिलसिला बहुत लम्वे समय से चल रहा है और इसको विराम देने की कोई सभावना भी नहीं लगती। कुछ प्रश्न तो ऐसे है, जो व्यक्ति विशेप के होने पर भी सार्वजनीन हैं। उनके उत्तरो से लाखों-लाखों लोगों को सही दिशादर्शन उपलब्ध हो सकता है।

गुरुदेव की दैनिकचर्या का परिवीक्षण किया जाए तो प्रतिदिन पाच-दस प्रश्नो को समाहित करने का अवकाश मिल जाता है। उन सबको सकलित कर पाना किसी के वश की बात नही है। फिर भी कुछ लोगो ने नामोल्लेखपूर्वक अपने लिखित प्रश्न भेजे और कुछ लोगों ने आमने-सामने वैठकर अपने मन की शकाओ का समाधान पाया। उनमे से कुछ सामग्री समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होती रही है। उसे सहेजते-सहेजते जिज्ञासाओ और समाधानो का अच्छा खासा पुलिदा बन गया। साध्वी चित्रलेखाजी और समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने उनको वर्गीकृत एव व्यवस्थित करने मे अपने समय और कौशल का उपयोग किया। कुल मिलाकर प्रस्तुत पुस्तक एक ऐसी साहित्यिक कृति बन गई, जिसके अक्षर-अक्षर समाधान के आकाश को खोलते हुए प्रतीत हो रहे है।

पूज्य गुरुदेव के मगल आशीर्वाद, पाठको की अभिप्रेरणा, सहयोगी साध्वियो के उत्साह और भाई कमलेश चतुर्वेदी के योग से गुरुदेव के वहुआयामी विचारो का यह संकलन तैयार हुआ है। इसमे प्रमुख रूप से उन जिज्ञासाओ का संग्रहण किया गया है, जिनका सम्वन्ध गुरुदेव के जीवन और चिन्तन से रहा है। तेरापथ, अणुव्रत, अहिसा आदि से सवंधित प्रश्नोत्तर भी प्रस्तुत सकलन में सम्मिलित है। जिज्ञासु पाठको के लिए गुरुदेव का यह अवदान उनमे जीवन और जगत के प्रति नई सोच और नई प्रेरणा भरने वाला सिद्ध हो, यही काम्य है।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

शान्ति-निकेतन
गगाशहर (राजस्थान)
२१ मई १६६७

अनुक्रम

प्रश्न : आचार्यश्री! आपका नाम तुलसी क्यो पडा? इसके पीछे किसकी कल्पना जुडी है? क्योकि तुलसी शब्द बहुत प्यारा और सार्थक है।

उत्तर : नाम पहचान का माध्यम होता है। हर व्यक्ति और वस्तु की पहचान के लिए नामकरण किया जाता है। मेरा नाम तुलसी किसने किया? क्यो किया? मैं नहीं जानता। संभवत. जन्मग्रहों के आधार पर किसी ज्योतिषी ने सुझाया हो। इतना मुझे बखूबी याद है कि जब मै छोटा बच्चा था, मेरे संसारपक्षीय मामा हमीरमलजी कोठारी, मुझे हाथों मे ऊपर उठा लेते और आले मे बैठाकर कहते—'हमारा तुलसी आगे जाकर तुलसीदास बनेगा।' मुझे प्रसन्नता है कि मैं सन्त तुलसी बन गया। वैसे नामकरण के पीछे कुछ भी उद्देश्य रहा हो, 'तुलसी' नाम मुझे भी अच्छा लगता है।

प्रश्न : आपके मन में दीक्षा का भाव कब और क्यो पैदा हुआ? इसके पीछे मूल प्रेरक शक्ति कौन थी?

उत्तर : मेरी दीक्षा के मूलभूत प्रेरणास्रोत रहे हैं—स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव कालूगणी। तेरापथ धर्मसघ के अष्टम आचार्यश्री कालूगणी के प्रति किन्हीं पिछले जन्मो के सस्कार थे अथवा आपके व्यक्तित्व मे कोई चुम्बकीय आकर्षण था, कह नहीं सकता। पर वह आकर्षण उत्तरोत्तर बढता रहा। लगभग नौ वर्ष की अवस्था मे मैंने पहली बार कालूगणी को गौर से देखा और उनका होकर रह गया। उन दिनो आपका आगमन लाडनूं मे कई बार हो जाता था। हर आगमन मेरे आकर्षण को बढाता रहा। ईस्वी सन् १६२५ मे, जब मै मात्र ग्यारह वर्ष का था, कालूगणी के चरणो मे दीक्षित होने का पक्का मन बना लिया। उससे पहले मेरे ज्येष्ठ

भ्राता मुनि चम्पालालजी दीक्षा स्वीकार कर चुके थे। दीक्षा के लिए उनकी प्रेरणा तो नहीं मिली, पर तत्काल दीक्षा होने में उनका सहयोग अवश्य मिला।

प्रश्न : दीक्षा के समय आपके सामने क्या लक्ष्य था?

उत्तर : अत्तहियट्ठयाए—आत्महित को सामने रखकर ही मैंने दीक्षा स्वीकार करने की बात सोची थी। उस अवस्था में इससे बढकर कोई व्यापक लक्ष्य हो भी नही सकता था। दूसरा लक्ष्य था—गुरु के चरणो में बैठकर ज्ञानार्जन करना। स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव कालूगणी के व्यक्तित्व का मेरे मन पर अप्रतिम प्रभाव था। उनके प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होने का मनोभाव पुष्ट हो गया तो घर मे रहना असंभव हो गया। दीक्षित होने के बाद अध्ययन और अनुभवों के आधार पर लक्ष्य का विस्तार होता गया।

प्रश्न : धर्मसंघ में आचार्य शब्द का अर्थ और दायित्व क्या होता है? मुनि से आचार्य बनने के समय का आपका अनुभव कैसा रहा?

उत्तर : संस्कृत व्याकरण के अनुसार आचार्य शब्द की उत्पत्ति आचार शब्द से हुई है। **आचारे साधुः आचार्यः**—जो आचारकुशल होता है, वह आचार्य है। आचार अर्थात् साधु-जीवन की आचार-सहिता और मर्यादाए। जो इनके पालन मे स्वयं सजग रहता है और दूसरों को सहयोग एवं प्रेरणा देता है, वह आचार्य होता है।

तेरापंथ धर्मसघ मे आचार्य संघ का सर्वोपरि व्यक्ति होता है। समूचे सघ में व्यवस्था-संचालन एवं विकास का दायित्व आचार्य पर रहता है। संघ की आर्त्तगवेषणा और सारणा-वारणा भी आचार्य करते है। अन्यान्य जैनसघो मे साधु-साध्वियां भी अपने शिष्य बना सकते है। तेरापंथ में ऐसी शिष्य-परम्परा नहीं है। यहां पूरा धर्मसंघ एक आचार्य के नेतृत्व मे चलता है। सघ के सब साधु-साध्वियां एक आचार्य के शिष्य होते हैं। इतना होने पर भी वे संघ में तानाशाह नहीं होते। सघ के प्रति उनका पितृवात्सल्य ही पूरे सघ को उनके प्रति सर्वात्मना समर्पित रखता है।

तेरापथ धर्मसंघ के दो सौ वर्षो के इतिहास मे वह पहली

घटना थी, जब मुझे बाईस वर्ष की अवस्था मे आचार्यपद पर नियुक्त किया गया। मेरे मन मे एक ही बात की आशंका थी कि इतने बडे धर्मसंघ मे अनुशासन कैसे चलेगा? पर हमारे पूर्वाचार्यो द्वारा संघ के एक-एक सदस्य में अनुशासन के सस्कार इतने कूट-कूटकर भरे गए हैं कि मेरे सामने विशेष कठिनाई नहीं आई। वैसे मेरी अवस्था छोटी थी। पर पूज्य गुरुदेव कालूगणी ने मुझे प्रारम्भ से इस रूप में रखा कि उनके सामने ही संघ मे मेरा प्रभाव स्थापित हो गया। इस कारण मुनि से आचार्य बनते समय मुझे किसी प्रकार की अतिरिक्तता का अनुभव नही हुआ।

प्रश्न : जिस समय आप आचार्य बने, संघ-विकास के लिए आपके मन मे क्या परिकल्पनाएं थीं और उत्तरकाल मे उनका क्या स्वरूप रहा?

उत्तर : उस समय कल्पनाओ और सभावनाओ का यह उन्मुक्त आकाश मेरे सामने नहीं था। मैं एक छोटे-से दायरे मे बधा हुआ था और उसी सीमा मे सोचता था। पूज्य कालूगणी ने अपने अतिम समय मे मुझे कहा—'यह सघ तुम्हारी शरण मे है। इसकी पूरी सार-सभाल रखना तुम्हारा दायित्व है।' बस मै अपने कर्तव्य की सीमा यहीं तक समझता था। इसलिए इसी कार्य मे सलग्न हो गया। हमारा धर्मसघ प्रारम्भ से ही सगठित और सुव्यवस्थित था, अत. उसमें किसी नये उन्मेष की कल्पना मेरे मस्तिष्क मे नहीं थी। मेरे चिंतन का एक ही बिन्दु था कि मेरे पूर्वाचार्यो ने जिस रूप मे सघ का विकास किया है, मेरे कारण उसमे किसी प्रकार का अतर न आ जाए।

उस समय का वातावरण भिन्न था, मानदण्ड भी भिन्न थे, इसलिए कुछ नया सोचने और करने का अवकाश भी नहीं था। उस समय हमारी जो शिक्षा थी, उसे हम पर्याप्त मानते थे। व्याकरण मे 'भिक्षुशब्दानुशासन', काव्य मे 'शांतिनाथ महाकाव्य' और दर्शन मे 'षड्दर्शनसमुच्चय' का अध्ययन करने के वाद हमने

सोचा कि हम बहुत पढ लिये। हां, साध्वियों की शिक्षा के बारे मे अवश्य एक चिंतन था। इसके लिए मुझे पूज्य कालूगणी का सकेत प्राप्त था। इसलिए मेरे मन मे साध्वीवर्ग की शिक्षा के लिए विशेष तडप थी और अविलम्ब मैंने वह कार्य प्रारम्भ भी कर दिया।

साधना के क्षेत्र मे किसी नई साधना का हमारा लक्ष्य नहीं था। अपनी साधुचर्या से हमे संतोष था। मेरी समझ मे हमारे संघ जैसा विकास अन्यत्र दुर्लभ था। वह युग श्रद्धा-प्रधान था और हमारे परिपार्श्व का वातावरण भी श्रद्धा से अनुप्राणित था। कोई बहुत लबी-चौडी बात हमने न सोची और न सुनी। उस स्थिति से थोडा आगे बढने पर मुझे प्रतीत हुआ कि हम स्थितिपालक है। हमारी शिक्षापद्धति प्राचीन है। साधना की दृष्टि से जो आयाम खुलने चाहिए, वे नहीं खुल रहे है। यह चितन दायित्व सभालने के पाच-सात साल बाद उभरा। तेरापन्थ का विरोध प्रारम्भ से ही होता रहा है। मेरे युग मे भी उसमे कमी नहीं आई। विरोधो से एक प्रेरणा मिली और हमने अपनी सीमा से वाहर झाककर देखा। उस समय मुझे शिक्षा की कमी बहुत अखरी। कुछ दूसरे व्यक्तियो ने भी नई संभावनाओ के सबंध मे चर्चा की। कुल मिलाकर वि. स. २००० तक मैं कल्पनालोक मे उतर चुका था।

एक दिन कुछ साधुओ को आमन्त्रित कर मैंने कहा—'युग इतना आगे वढ रहा है और हम लोग जहा के तहां खडे है। अभी हमारे पास एक भी साधु ऐसा नहीं है जो शुद्ध हिन्दी मे प्रवचन कर सके, संस्कृत मे लिख या बोल सके और किसी बौद्धिक गोष्ठी मे अपने विचार दे सके। क्या मै कल्पना करू कि तुम लोगो मे से कोई कवि, वक्ता, लेखक आदि वन सकेगा? क्या अपने संघ में वौद्धिकता का विकास सभव है?' मेरी यह बात उनको लग गई। उसके वाद कुछ साधुओ ने विभिन्न क्षेत्रो मे गति की। उनकी गति का वेग वढा और इतना वढा कि

लोगो को आश्चर्य होने लगा।

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, मै अधिक काल्पनिक बनता गया। मेरी परिकल्पनाओ मे स्वय का निर्माण, अपने अध्ययन का विकास, साधु-साध्वियों की शिक्षा, साहित्य-सृजन, प्रचार-प्रसार, जैनदर्शन का आधुनिक रूप मे प्रस्तुतीकरण, आगम-सपादन, समाज में नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा, नया मोड, स्वाध्याय की रुचि का निर्माण, साध्वियो का नेतृत्व, अध्ययन की नई विधाओ का विकास, अध्यात्म की गहराई मे प्रवेश आदि अनेक बाते थीं।

सघ की आतरिक व्यवस्थाओ के संबंध मे भी मेरी अनेक कल्पनाए थीं। कुछ कल्पनाओ को उसी समय आकार मिल गया और कुछ धीरे-धीरे साकार होती रही। हमारे चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने इस दिशा मे वहुत परिष्कार किया था। फिर भी कुछ वाते अमुक-अमुक युग मे होने की होती है। मै अपने धर्मसघ की मौलिक मर्यादाओ को अक्षुण्ण रखता हुआ सामयिक मूल्यो की स्वीकृति के पक्ष मे हू। इसी चितन के आधार पर मैंने अपने करणीय कार्यो का एक प्रारूप तैयार किया और उसकी क्रियान्विति मे मुझे मत्री मुनि मगनलालजी स्वामी का पूरा समर्थन एवं सहयोग प्राप्त हुआ। पता नही वे नये युग के थे या पुराने युग के, मेरे युगीन चितन को उन्होने सदा महत्त्व दिया और मेरा सम्पूर्ण धर्मपरिवार मेरे कार्य मे सहयोगी रहा।

प्रश्न : दायित्व की चद्दर पाच-सात वर्ष भी ओढ ली जाए तो व्यक्ति को भार की अनुभूति होती है। आप लम्वे समय से सघ को नेतृत्व दे रहे है। सुदीर्घ प्रशासनिक काल मे आपका क्या अनुभव रहा? आप आज भी अपने आपको तरोताजा महसूस कैसे कर रहे है?

उत्तर : जो लोग दायित्व पाने के लिए उम्मीदवारी मे खडे होते है, उनकी स्थिति कुछ भिन्न होती है। जिनको गुरु अपना दायित्व सौंपते है, उनकी स्थिति दूसरी होती है। जिस व्यक्ति मे दायित्व-निर्वाह

है। जो व्यक्ति येन केन प्रकारेण दायित्व प्राप्त करता है, उसे भी भार का अनुभव होना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु जहा गुरु-प्रसाद के रूप में दायित्व उपलब्ध होता है, वहां भार गुरु पर रहता है। दायित्व वहन करने वाला निर्भार रहकर अपना काम करता है।

दायित्व-निर्वाह का दूसरा पहलू यह है कि दायित्व छोटा हो या बडा, उसके निर्वाह की बात बहुत कठिन है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो कठिनाइयों का मुकाबला करते हुए दायित्व का सागर पार कर लेते हैं। किन्तु जो व्यक्ति कठिनाइयों के कारण भार का अनुभव करता है, उसके लिए दायित्व का निर्वाह करना और अधिक कठिन हो जाता है। एक कठिनाई दायित्व की गुरुता की और दूसरी कठिनाई स्वयं को अकिञ्चित्कर समझने की। सफलता उसे मिलती है जो निरपेक्ष भाव से दायित्व सभालता है और पूरे आत्मविश्वास के साथ कर्त्तव्य बुद्धि से उसका निर्वाह करता है।

प्रशासनिक काल के अनुभवो का जहां तक प्रश्न है, बडी-बडी कठिनाइया भी सामने आई। उस समय एक बार ऐसा लगता मानो चलते-चलते रास्ते के बीच कोई पहाड आ गया। आगे का रास्ता कैसे पार होगा? यह चिन्तन दिमाग को झकझोर देता। किन्तु देखते-देखते पहाड हट जाता और रास्ता पार हो जाता। अनेक बार रात को नींद उड जाती। बहुत सोचने पर भी समाधान का सूत्र हाथ नही लगता। मै उसे छोडकर सो जाता। प्रात-काल उठता तो पथ प्रशस्त हो जाता। इससे मनोबल और उत्साह बढ़ता रहा।

अब तो मेरे सामने अनेक सहयोगी तैयार हो गए है। एक समय था, जव कोई सहयोगी नहीं था। मन्त्री मुनि मगनलालजी अनेक कामो में मेरे सहयोगी थे। पर प्रशासनिक कार्यो मे वे मौन रहते थे। हस्तक्षेप तो वहुत दूर की वात, वे उनसे दूर ही रहते थे। उस समयं मैं अनुभव करता कि किसी अज्ञात

शक्ति के अहसास ने मुझे सदा तरोताजा बनाए रखा है।

श्न : आपकी दृष्टि मे वे कौन से गुर है, जिनके आधार पर व्यक्ति सफल नेतृत्व की भूमिका तक आरोहण कर सकता है?

त्तर : मेरा षहला अनुभव यह है कि जो सफल शिष्य होता है, वही सफल शास्ता बन सकता है। जिसका शिष्यत्व सफल नही होता, उसकी शासना भी सफल नही हो सकती। प्रशासन के क्षेत्र मे शिक्षा, वक्तृत्व, लेखन आदि का उपयोग है। पर इनकी न्यूनाधिकता प्रशासनिक क्षमता के आगे प्रश्नचिह्न नही लगा सकती। धर्म और राजनीति—दोनो क्षेत्रो मे इतिहास के कुछ पृष्ठ ऐसे व्यक्तियो के चरित्र से रगे हुए है, जो अधिक पढे-लिखे नहीं थे, पर उनकी प्रशासनिक क्षमता अद्‌भुत थी।

सफल प्रशासन के लिए कुछ गुर हो सकते है, जैसे—सहिष्णुता समता, तटस्थता, दूरदर्शिता, निर्णयक्षमता, जागरूकता, समयज्ञता आदि।

सहिष्णुता की आग मे तपा हुआ व्यक्ति किसी भी स्थिति को अच्छे ढग से सह लेता है। जो सहिष्णु नहीं होता, वह सफल नेता नही हो सकता। कुछ लोग विवश होकर परिस्थिति के आघात को सहन करते है। यह दुर्बलता है। समत्व के विकास से जो सहिष्णुता आती है, वह तेजस्विता को बढाती है।

पक्षपात की मनोवृत्ति प्रशासन को कमजोर वना देती है। जहा अपनेपन और पराएपन की भावना रहती है, वहा सबको न्याय नहीं मिल सकता। गलती होने पर निकट से निकट का व्यक्ति भी दण्ड-व्यवस्था से मुक्त नहीं रह सकता। ऐसी तटस्थता की नीति अधीनस्थो मे विश्वास जगाती है।

इसी प्रकार दूरदर्शिता, निर्णयक्षमता, जागरूकता आदि भी ऐसे गुर है, जिनके द्वारा सफल नेतृत्व की भूमिका पर सहज भाव से आरोहण हो सकता है। हमारे यहा गुरु-शिष्य का सम्वन्ध इतना आत्मीयतापूर्ण है कि इसमे शास्य-शासक भाव अपेक्षा होने पर ही सक्रिय होता है। इस सन्दर्भ मे एक बात यह ज्ञातव्य

है कि जिस संघ, संगठन या दल मे नेता को अपने अनुगामियो का सहयोग मिलता है, वहां उसका नेतृत्व संघ या दल को अधिक गतिशील बना सकता है।

प्रश्न : हर आदमी के जीवन का कोई सपना होता है। क्या आपने भी कोई सपना देखा है? यदि हां, तो क्या वह साकार हो गया है?

उत्तर : मैने निद्रावस्था में बहुत अधिक सपने नहीं देखे, पर मेरे दिवास्वप्नो की सूची बहुत लम्बी है। मैंने जितने स्वप्न देखे, शायद कम लोग देख पाते हैं। सच तो यह है कि स्वप्न-द्रष्टा ही कुछ कर सकता है। मुझे प्रसन्नता इस बात की है कि मेरे द्वारा देखे गएँ अनेक सपने फलवान बने है। मेरे सब स्वप्न सच हो गए, यह तो मै नही कह सकता। किन्तु मेरा विश्वास चिन्तन, निर्णय और क्रियान्विति की समन्विति में है। इन तीनो मे कालक्षेप हो जाए तो स्वप्न के फलित होने में सन्देह रहता है। मैने कोई एक स्वप्न देखा हो तो उसकी चर्चा की जा सकती है। मेरा स्वभाव यह बन गया कि एक स्वप्न फलवान बनता है, उसके साथ ही कई नये स्वप्न उग आते है। इसी कारण कुछ लोग मेरी पहचान 'स्वप्न-द्रष्टा आचार्य' के रूप मे करते है।

प्रश्न : आपके शासनकाल मे आपने जो कल्पनाए की, वे सारी साकार हो चुकी है अथवा कुछ अवशेष भी हैं?

उत्तर : सारी कल्पनाओ को आकार मिलने की बात तब पूरी हो, जब मैं नई कल्पनाएं न संजोऊं। एक कल्पना पूरी होने से पहले ही नई कल्पनाएं उभर आती है और उनकी शृंखला इतनी लम्बी हो जाती है कि विचार-यात्रा का हर पडाव अपूर्ण-सा प्रतीत होने लगता है। अब भी मै नई-नई कल्पनाओ के ताने-वाने बुन रहा हू और मुझे अनुभव होता है कि वे सब धीरे-धीरे सत्य में बदल रहे है। अभी मेरी प्रमुख कल्पनाएं ये हैं—मै अपने साधु-संघ को योग-प्रधान अर्थात् साधना-प्रधान देखना चाहता हू। साधना प्रधान का अर्थ यह नहीं कि शिक्षा, साहित्य धर्म-जागरण आदि में अवरोध आ जाएगा। मेरे विचार से ये उपक्रम जीवन के

लक्ष्य नही, साधन हैं। जीवन का लक्ष्य है समता और समाधि। वर्तमान युग मे टूटती हुई आस्था का प्रभाव साधु-सघ पर भी सभावित है। शास्त्र और गुरुजन आस्था के केन्द्र होते है। उन पर आस्था हो, इससे भी अधिक आवश्यक है अध्यात्म के प्रति अटूट आस्था का निर्माण। आध्यात्मिक आस्था का अभाव बहुत बडे दुर्भाग्य का सूचक है। इस दृष्टि से मै अपने धर्मसघ को अध्यात्म से अनुप्राणित देखना चाहता हू। आगमो का अध्ययन भी हम इसी परिप्रेक्ष्य मे कर रहे है। अभी आचाराग के पारायण से अध्यात्म के अनेक रहस्य उद्घाटित हुए है। अध्यात्म-विकास का मेरा यह स्वप्न जिस दिन पूरा होगा, मै कृतकृत्य हो जाऊगा।

शिक्षा की नई-पुरानी सब विधाए हमारे सघ मे विकसित हो, यह भी मेरी एक कल्पना है। इसके साथ मै यह भी चाहता हू कि श्रावक समाज मे कुछ ऐसे विद्वान् तैयार हो, जो जैन-दर्शन के प्रतिनिधि बन सके। साधु और श्रावक के बीच एक तीसरी श्रेणी का स्वप्न भी मै वर्षो से देख रहा हू। इन स्वप्नो की पूर्ति मे मै अपने पुरुपार्थ और शुभचितको के सहयोग की अपेक्षा रखता हू।

प्रश्न : कुछ लोगो का यह भी कहना है कि आप अपने सघ को चलाने के लिए किसी साधु-साध्वी से होने वाली गलती को दवा देते है। क्या यह सही है?

उत्तर : मै न तो गलती को दबाने के पक्ष मे हू, न फैलाने के। मै तो उसे सुधारने के पक्ष मे हू। मै यह नहीं कहता हू कि हमारे सघ मे कोई गलती नहीं करता। पर यह भी कह सकता हू कि मेरा साधु-साध्वी समाज जितना आचारनिष्ठ एव अनुशासित है, उस पर मुझे गर्व है। गलती होना कोई वडी वात नहीं है। आज नही, हमेशा से ही मनुष्य मे यह दुर्बलता रही है। हम हर गलती का मनोवैज्ञानिक ढग से सुधार करने का प्रयत्न करते हैं। यदि उसमे सुधार की कोई सभावना नहीं होती है तो हम उसे सहन नहीं कर सकते। आचार तथा अनुशासन मे सुधार

की गुंजाइश नहीं होने पर मैने बडे-से-बडे बल्कि एक साथ अनेक लोगों का संबध विच्छेद किया है। अनुशासन की दृष्टि से यह अन्तिम कदम है। इससे पहले उसे संभलने का अवसर देना केवल धार्मिक ही नहीं, मानवीय दृष्टिकोण भी है।

प्रश्न : आप आने धर्मसंघ के भविष्य के बारे मे क्या सोचते हैं?

उत्तर : मुझे अपने धर्मसंघ का भविष्य उज्ज्वल दिखाई दे रहा है। धर्मसंघ के उज्ज्वल भविष्य का सबसे बडा हेतु है कि हम रूढ नहीं है। हम ज्वार को भी मानते हैं और भाटे को भी स्वीकार करते है। द्रव्य और पर्याय, शाश्वत और सामयिक स्थायित्व और परिवर्तन—इन सबकी सम्यक् अन्विति जहा होती है, वहां हर युग की सहमति उपलब्ध हो जाती है। मै मानता हू कि आने वाला युग बडा टेढा है, पर न जाने कितने टेढे युग हमारे सघ ने पार कर दिए है। इसलिए इसके भविष्य में मेरी आस्था है। मै मानता हू कि हमारे धर्मसघ की नींव किसी शुभ समय में कुशल शिल्पी द्वारा डाली गई है। इसका मूल इतना सुदृढ है कि वह कभी हिल नहीं सकता। कई बार इसके सामने ऐसी स्थितियां आई, जिनसे कुछ लोगो के मन प्रकम्पित भी हुए। लेकिन स्थितियां स्वयं बदल गई और सघ को आच तक नहीं आई। भविष्य मे भी कठिन-से-कठिन परिस्थितियां आ सकती है। उन्हे पार करने के लिए हमे प्रयत्नशील रहना है और धर्मसघ का गौरव बढाना है।

प्रश्न : अपनी योजनाओं की क्रियान्विति के समय आपके सामने बहुत बाधाएं उपस्थित हुई है। उस समय आपकी मन स्थिति कैसी रही?

उत्तर : मै अपने जीवन मे बहुत अनुकूलताओ और प्रतिकूलताओ के मध्य से गुजरा हूं। जव कभी मेरे सामने प्रतिकूल परिस्थितिया उपस्थित होती हैं और अधिक भयकर रूप से उपस्थित होती हैं, कुछ क्षणो के लिए मेरे मस्तिष्क पर एक बोझ-सा आ जाता है। मुझे अनुभव होता है कि मै अंधकार मे खडा हू। किन्तु

यह स्थिनि अधिक समय तक स्थिर नहीं रहती। थोडे समय बाद ही अधकार आलोक बनकर मेरा मार्ग प्रशस्त कर देता है और मै परिस्थितियो के प्रतिकार के लिए सजग हो जाता हू।

मैने अपने अतीत के अनुभवो के आधार पर जीवन को एक नई परिभाषा दी है। उसके अनुसार जीवन वह है, जिसमे नये-नये सघर्ष एव नई-नई बाधाए आए और व्यक्ति उनके साथ जूझता हुआ आगे का मार्ग तय करता जाए। 'मुहूर्त्त ज्वलित श्रेयो न च धूमायित चिरम्'—यह वाक्य मेरे भीतर गूजता रहता है। इसलिए मुझे निष्क्रिय जीवन जीने मे रस नही है। मै अपनी योजनाओ की क्रियान्विति मे जिन प्रयोगो और प्रक्रियाओ को काम मे लेता हू, उनके सवध मे एक स्पष्ट रूपरेखा तैयार करता हू और अपने सहयोगियो के साथ परामर्श भी करता हू। अपने चितनशील सहयोगियो से मुझे बहुत-वहुत आशाए है। मेरी उलझन के समय मेरा सवसे वडा आलम्बन है पूज्य गुरुदेव कालूगणी की स्मृति। इससे मुझे नया मार्ग मिलता है, प्रेरणा मिलती है, वल मिलता है और मैं अपने सतुलन को स्थिर रखता हुआ कठिन परिस्थितियो से नये अनुभव लेकर आगे बढ जाता हू।

प्रश्न : अपनी षष्टिपूर्ति के अवसर पर आप अपने धर्मसघ और देश के नाम क्या सदेश देना चाहते है?

उत्तर : मेरे सदेश का पहला सूत्र है—अवस्था और वुढापा दो भिन्न-भिन्न तत्त्व है। इसलिए अवस्था को वुढापा न माना जाए। यह माना हुआ वुढापा व्यक्ति को निष्क्रिय वना देता है। अवस्था के साथ वृद्धत्व का गठवधन नहीं है, इस सत्यता को स्वीकार कर जीवन को नये-नये उन्मेपो से अनुप्राणित रखना चाहिए।

मेरे सन्देश का दूसरा सूत्र है—खाद्यसयम। मैने अनुभव किया कि खाद्यसयम जीवन का सच्चा मित्र है। मैने इसका अभ्यास किया है और वर्तमान मे भी कर रहा हू। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस सूत्र को लेकर चलने वाला व्यक्ति अनेक दृष्टियो से लाभान्वित होता है।

तीसरी बात है—समय का सदुपयोग। मैंने समय का बहुत उपयोग किया है। मेरा क्षण-क्षण किसी अच्छे कार्य में लगे, यह मेरी तीव्र भावना है। साधु-साध्वियों ने भी इस सूत्र को पकडकर अपने जीवन मे काफी परिवर्तन किया है। श्रावक समाज मे अभी तक मै इसकी कमी अनुभव करता हू। इसलिए उन्हे विशेष रूप से कहना चाहूंगा कि वे भगवान महावीर के सूक्त—**'समयं गोयम! मा पमायए'** को जीवन-विकास का सूत्र बनाकर समय का उपयोग करना सीखें।

देश के नाम अपने सार्वजनिक संदेश मे मै कहना चाहूगा कि व्यक्ति-व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण करने के लिए संकल्प-बद्ध हो। ससार-निर्माण की कल्पना अति कल्पना है, व्यामोह है। इस व्यामोह को तोडकर व्यक्ति-सुधार की दृष्टि से वातावरण निर्मित किया जाए।

देश मे बढती हुई हिसक परिस्थितियो के सदर्भ मे अहिसा का मूल्य प्रतिष्ठित करने के लिए यह अनुकूल अवसर है। अहिंसा एक ऐसा तत्त्व है, जिसमे समग्र विश्व के हित, सुख और कल्याण की सभावनाएं निहित है। समाज मे अहिसा और अपरिग्रह के मूल्य प्रस्थापित होने के बाद बहुत-सी सामयिक समस्याए स्वयं निरस्त हो जाती है। लोक-चेतना के परिष्कार और सस्कारो की उच्चता के लिए जनता स्वयं जागृत होकर नैतिक मूल्यों के उन्नयन मे सलग्न हो, मेरे सदेश का आदि, मध्य और अन्तिम बिन्दु यही है।

प्रश्न : भगवान महावीर के पचीससौवे निर्वाण-वर्ष मे आपका षष्टिपूर्ति समारोह समाज को नवचेतना देगा, इस विषय मे आप क्या सोचते है?

उत्तर : समाज को नयी चेतना देना किसी के हाथ की बात नहीं है। सामाजिक धरातल पर काम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि वह समाज को वदल देगा, किन्तु ऐसा होना वहुत कठिन है। अनेक महापुरुष अव तक अपनी षष्टिपूर्ति मना चुके है।

क्या उन्होंने समाज को जो रूप देना चाहा, वैसा दे सके?

सामाजिक मूल्यो को बदलने और नए मानदण्डो की स्थापना के लिए मेरे मन मे भी बहुत कल्पनाएं है। मैं उनके अनुरूप समाज को नई दिशा देना चाहता हूं। अपने जीवन के साठ वर्षो के अनुभवों के आधार पर निष्कर्ष रूप मे मुझे जो तत्त्व उपलब्ध हुआ है, उससे साधु-संघ और श्रावक-समाज की चेतना के ऊर्ध्वारोहण मे यथासभव योगदान करने का शुभ सकल्प संजोता हुआ मै सातवें दशक मे प्रवेश कर रहा हूं।

प्रश्न : आपने अपने आचार्यकाल मे अनेक वर्ष मनाए हैं। इस सदी के अतिम दशक को आप किस रूप मे मनाने की बात सोच रहे हैं?

उत्तर . दशक का काल लम्बा होता है। किसी भी चिन्तन की क्रियान्विति के लिए प्रलम्ब समय सामने होता है तो उसमें तत्परता नहीं रहती। **कालः पिबति तद्रसं**—उस काम के रस को काल पी जाता है। इस दृष्टि से कोई दशक मनाने की बात अब तक नही सोची है। वैसे हमारे कार्यक्रम ऐसे हैं, जो एक क्या, कई दशको मे भी पूरे होने के नहीं है। अणुव्रत का काम हम पिछले चार दशको से करते आ रहे है। इस सदी के अतिम दशक का प्रथम वर्ष हम 'अणुव्रत वर्ष' के रूप मे मना रहे है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्ष पूरा होने से अणुव्रत का काम पूरा हो जाएगा। अणुव्रत का कार्यक्रम निरन्तर चलता रहेगा। यही बात प्रेक्षाध्यान और जीवनविज्ञान आदि व्यापक कार्यक्रमों पर लागू होती है।

सार्वकालिक या दीर्घकालिक कार्यक्रमो को जब कभी अतिरिक्त बल देना होता है तो अणुव्रत वर्ष, सयम वर्ष, अनुशासन वर्ष, योगक्षेम वर्ष जैसी आयोजनाए की जाती है। इस चालू दशक के पूर्वार्ध मे रचनात्मक कार्यक्रमों की दृष्टि से एक पचवर्षीय योजना तैयार की जा रही है। उस योजना को भी हम पूर्णत नही, खण्डशः क्रियान्वित करना चाहेगे। उसमे एक-एक वर्ष के

कार्यक्रम निर्धारित कर व्यवस्थित रूप से काम करने का चिन्तन किया गया है। इस योजना के तहत् कोई वर्ष मनाया जाएगा तो मैं 'अहिसा-प्रशिक्षण वर्ष' को प्राथमिकता देना चाहूगा।

प्रश्न : आज आप नये वर्ष मे प्रवेश कर रहे हैं, अग्रिम वर्ष मे सघ के सम्बन्ध में आप क्या सोचते है?

उत्तर : नव वर्ष-प्रवेश के अवसर पर मै सात्विक प्रसन्नता का अनुभव करता हूं। सघ के बारे मे चिन्तन का जहा तक प्रश्न है, मै अपने आपको संघ से भिन्न नहीं मानता और संघ को अपने से भिन्न नही मानता। इसलिए मैं अपने बारे मे जो कुछ सोचूगा, वह सघीय परिवेश से सपृक्त रहेगा और संघ के बारे मे जो चिन्तन करूगा, उससे मेरा जीवन अप्रभावित नहीं रह पाएगा।

इस वर्प हम तेरापन्थ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्य की निर्वाण-शताब्दी मनाने का निर्णय ले चुके हैं। वह वर्ष 'अनुशासनवर्ष' के रूप में मनाया जाएगा, यह भी निश्चित हो चुका है। फिर अग्रिम वर्प मे सघीय दृष्टि से इससे अतिरिक्त मै सोच ही क्या सकता हू? हमारा धर्मसघ सहज रूप से अनुशासित है। समूचे संघ की अनुशासन मे निष्ठा है। फिर भी मै चाहता हूं कि अग्रिम वर्ष मे अनुशासन के कुछ विशेष प्रयोग हों। ध्यान, स्वाध्याय, सेवा और स्वभाव-परिवर्तन के प्रयोग हों। श्रमण धर्म को जीवन मे विकसित करने के प्रयोग हों और वे सब प्रयोग हो जो हमारे धर्मसघ को अधिक यशस्वी और तेजस्वी वना सके।

अनुशासन के सदर्भ मे नये प्रयोग करने की दृष्टि से चिन्तन शुरू हो गया है। उसकी निष्पत्ति के रूप मे हम एक प्रारूप तैयार करेंगे। उसके आधार पर व्यक्तिश. और सामूहिक रूप से साधु-साध्वियो पर प्रयोग किए जाएगे। वे स्वयं भी अपने जीवन मे कुछ प्रयोग करेगे। इससे आगे हम श्रावक समाज को भी कुछ प्रयोग सुझाएंगे। मेरा निश्चित विश्वास है कि आगामी 'अनुशासन वर्ष' हमारे धर्मसघ के लिए नयी प्रेरणा और नया संदेश लेकर आएगा।

प्रश्न : आपने जयाचार्य शताब्दी के उपलक्ष्य में 'अनुशासन वर्ष' मनाने की घोषणा की है, क्या राष्ट्रीय दृष्टि से भी आप कुछ करेगे?

उत्तर : हमारा 'अनुशासन वर्ष' व्यक्ति का स्पर्श करता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज को छू सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। उस अवसर पर हम व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व को कुछ ऐसे सूत्र समझाने का प्रयत्न करेगे, जिनसे अनुशासन के क्षेत्र मे नया मोड आ सके। आज राष्ट्र के सामने सबसे बडी समस्या अनुशासनहीनता की है। बच्चो से लेकर विधायको तक किसी भी वर्ग मे अनुशासन का अस्तित्व नहीं के बराबर है। हम आत्मानुशासन के द्वारा राष्ट्रीय अनुशासन की बात मे विश्वास करते है। इस दृष्टि से वर्गीय स्तर पर ऐसी आचार-सहिता लागू करने की अपेक्षा है, जो व्यक्ति के भीतर से अनुशासन को उभार सके।

प्रश्न : तेरापंथ सघ मे व्यक्ति अपनी हर सफलता का श्रेय आचार्य को देता है। ऐसा हमने बहुत बार अनुभव किया है। इस स्थिति को व्यक्तित्व-विकास मे साधक मानना चाहिए या वाधक?

उत्तर : तेरापथ धर्मसघ के साधु-साध्वियो का यह सहज वैशिष्ट्य है कि वे स्वयं को गौण रखकर सघ और सघपति को महत्त्व देते है। हमारे सघ मे यह सस्कार काम करता है कि जो व्यक्ति अपनी महत्त्वाकाक्षा रखता है, उसका महत्त्व घटता है और जो व्यक्ति गुरु के प्रति समर्पित रहता है, उसका महत्त्व वढता है। समय-समय पर इन सस्कारो को पोषण भी दिया जाता है। हमारे साहित्य में भी ऐसी बाते मिलती है, जैसे--

बात-बात प्रवचन-प्रवचन मे, गण गणपति रो नाम।
सुविनीता री सरल कसौटी, दो चावल कर थाम॥

तेरापथ संघ मे पदलिप्सा, यशलिप्सा और महत्त्वाकाक्षा सर्वथा वर्जित है। यद्यपि सब लोग समान नहीं होते। फिर भी हमारे सघ की परम्परा यही है और वह आगे-से-आगे संक्रान्त

हो रही है।

संघ और गुरु के प्रति समर्पण एव विनम्रता की यह वृत्ति व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास मे बाधक कैसे हो सकती है? यह तो विकास मे सहायक बनती है। हमारा अनुभव भी यही है कि जहा कहीं व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा बढती है, विकास के द्वार बन्द हो जाते हैं और गति मे अवरोध उपस्थित हो जाता है।

प्रश्न : कुछ लोगो का कथन है कि आपने आचार्य भिक्षु की मर्यादाओ का अतिक्रमण किया है। जो कार्य उस समय नही होता था वह अब होने लगा है। आपका इस सम्बन्ध मे क्या अभिमत है?

उत्तर : उस समय जो होता था, आज वह नहीं होता है तथा आज जो होता है, वह उस समय नहीं होता होगा—यह बात एक सीमा तक ठीक है। पर इसका अर्थ यह कैसे हुआ कि हम आचार्य भिक्षु की मर्यादाओ का अतिक्रमण कर रहे है? स्वामीजी ने मर्यादाओ का सूत्र वर्तमान आचार्य के हाथ मे सौंपते हुए निर्देश दिया कि मर्यादाओ एव परम्पराओ मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन सम्भाव्य है। भावी आचार्य सूत्र, सिद्धान्त और विवेक को काम मे लेकर इन मर्यादाओ मे परिवर्तन, परिवर्धन तथा संशोधन कर सकते है और नई मर्यादाओ का निर्माण कर सकते है। स्वामीजी द्वारा प्रदत्त इस अधिकार का उपयोग कर मैंने देश-काल के अनुसार कुछ परिवर्तनो को मान्यता दी है। ऐसा मैंने ही नहीं, पूर्वाचार्यो ने भी किया है। स्वामीजी ने भी अपने युग मे कुछ नया किया। उनके बाद जयाचार्य ने अपने समय मे नई धारणाओं को जन्म दिया। वर्तमान मे हम अपनी तटस्थ नीति से सम्भावित परिवर्तनो के दौर से गुजर रहे है। हमारी साधना का मूल आधार है सयम। सयम की मौलिक आस्थाओ का परिवर्तन न कभी हुआ है और न कभी होने का है। सामयिक परिवर्तनो को मर्यादा का अतिक्रमण नहीं माना जा सकता।

प्रश्न : इन दिनो अनेक पत्रो, पैम्फलेटो आदि के द्वारा आपके धर्मसघ

पर शिथिलाचार के आरोप लगाये जा रहे है। इस सम्वन्ध मे आपके क्या विचार हैं?

उत्तर : किसी वस्तु का निर्माण कठिन होता है, उसका ध्वंस कोई भी कर सकता है। आरोप लगाना भी बहुत सुगम है। कोई व्यक्ति किसी भी समय किसी पर आरोप लगा सकता है। मै अब तक भी समझ नही पाया हू कि यह शिथिलाचार क्या बला है? शिथिलाचार की वात नई नही, रूढ हो चुकी हैं। पूज्य कालूगणी के समय कुछ व्यक्तियो द्वारा शिथिलाचार का आरोप लगाया गया था। श्रीमज्जयाचार्य के समय मे शिथिलाचार की चर्चा काफी तीव्र थी। इससे भी आगे चले तो तेरापथ के आद्यप्रवर्तक श्री भिक्षुस्वामी पर भी यह आरोप लगाया गया था। स्वामीजी की कठोर चर्या को भी जिन्होने नहीं वख्शा, उनके वंशज धर्म-सघ की वर्तमान प्रवृत्तियो पर भी मनमाना कीचड उछाल सकते है।

मै स्वय ही नहीं समझ पाया कि शिथिलाचार शब्द से लोग क्या कहना चाहते है? घिसा-पिटा और रटा-रटाया यह शव्द धर्म-सघ की गरिमा को तब तक क्षीण नही कर सकेगा, जब तक सघ के सदस्य मौलिक आचार मे दृढ रहेगे। जो व्यक्ति शिथिलाचार की बात कहते है, मै उन्हे पूछना चाहूगा कि शिथिलाचार क्या है और दृढाचार क्या है? यदि सघ द्वारा मान्य नई प्रवृत्तियो को ही शिथिलाचार कहा जाए और उन प्रवृत्तियो को छोड दिया जाए तो उस धर्मसघ को रूढ होने से कैसे वचाया जा सकता है?

धर्मसघ की मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए सामयिक परम्पराओ मे परिवर्तन का सिद्धान्त हमे मान्य है। इसी आधार पर हमने युगानुकूल नई प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है और प्राचीन परम्पराओ मे सशोधन किया है। भविष्य में भी ऐसी सभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रश्न : 'योगक्षेम वर्प' की सफल आयोजना के वाद आप पाली पधार रहे है। अगला वर्ष आपने 'अणुव्रत वर्प' के रूप मे मनाने की

घोषणा की है। सहज रूप में यह एक अणुव्रत यात्रा हो रही है। क्या इसके अतिरिक्त भी 'अणुव्रत वर्ष' की दृष्टि से सक्रिय कार्यकर्ताओं की विशेष यात्रा की उपयोगिता आप महसूस करते हैं?

उत्तर : हम पाली जा रहे है। 'अणुव्रत वर्ष' की पृष्ठभूमि मे सहज रूप से हमारी यह यात्रा अणुव्रत यात्रा हो रही है। एक प्रकार से 'अणुव्रत वर्ष' का अच्छा प्रारम्भ हो रहा है। पर हमारी यात्रा इस वर्ष के साथ ही जुडी हुई नहीं है। इससे पहले भी हमने अनेक यात्राए की है। उनमें भी हमने मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिए काम किया है, आगे भी हमारी यात्राए होती रहेगी। **'चरैवेति-चरैवेति'** हमारा संकल्प है तो यात्रा को विराम कहा मिलेगा?

अब रही बात अणुव्रती कार्यकर्ताओ की। ऐसा सोचा जा रहा है कि 'अणुव्रत वर्ष' के प्रारम्भ से पूर्व कुछ कार्यकर्ता विशेष लक्ष्य के साथ यात्रा करेगे। उनके द्वारा स्थान-स्थान पर घूमकर वातावरण बनाने के बाद कम समय और कम साधनो से भी अच्छा काम हो सकता है। इस दृष्टि से कार्यकर्ताओ की यात्रा का भी महत्त्व है।

'अणुव्रत वर्ष' की योजना के निर्धारण एवं उसे क्रियान्वित करने की दृष्टि से 'सयोजना समिति' का गठन हुआ है। उसके सयोजक है पारसभाई जैन। वे एक अनुभवी और तपे हुए कार्यकर्ता है। पूरे मनोयोग से वे इस काम मे जुडे है। उन्होने तय किया है कि 'अणुव्रत वर्ष' प्रारम्भ होने मे जितना समय शेष है उसमे वे यात्रा करेगे और जनसंपर्क कर अणुव्रत की पृष्ठभूमि तैयार करेगे।

प्रश्न : जिस तरीके से अणुव्रत आन्दोलन को जन-जन तक पहुचाने के लिए आपने सारे भारत की यात्रा की है, क्या आप प्रेक्षाध्यान को भी जन-जन तक पहुंचाने के लिए सारे भारत की पुन यात्रा करेगे?

उत्तर : पदयात्रा हमारा जीवन व्रत है। जब तक मैं चल सकता हूं, पदयात्रा करता ही रहूंगा। अणुव्रत और प्रेक्षा के कार्य को मै भिन्न नहीं मानता। इसलिए मै जहां भी जाऊंगा, दोनों काम साथ ही चलेगे। अब तक मैने साठ हजार किलोमीटर से अधिक की पदयात्रा कर ली है। मेरी अवस्था भी सत्तर वर्ष के करीब हो गयी है। अपना दायित्व अब मैने युवाचार्य महाप्रज्ञ को सम्भला दिया है। फिर भी मै यह नहीं सोचता कि मैं किसी एक जगह बैठ जाऊंगा। हो सकता है लम्बी यात्रा न भी करू, पर यात्रा के प्रति अभी मेरा उत्साह है।

प्रश्न : भौतिकता की पराकाष्ठा के इस युग में आप 'अणुव्रत वर्ष' के माध्यम से समाज एव देश को क्या संदेश देना चाहते है?

उत्तर : भौतिकता और आध्यात्मिकता का संघर्ष नया नही है। ऐसा कौन-सा युग था जब भौतिकवादी मनोवृत्ति मुखर नहीं थी। रही बात उसके चरम उत्कर्ष की। यह स्थिति सार्वभौम और सार्वजनीन नहीं है। आज भी बहुत लोग ऐसे मिलेगे, जिनका आकर्षण नीतिमत्ता और मानवीय मूल्यो मे है। उनके लिए हमे काम करना ही है। उनके लिए भी करना है, जो भौतिकता मे आकंठ निमग्न है। ऊसर भूमि मे वर्षा का उपयोग नहीं होता तो क्या वर्षा उस क्षेत्र को छोड देती है? हम ऐसा मानते है कि भौतिकवाद अपनी जगह पर है। भूतवाद के अधकार को कीलित करने के लिए हमे अधिक तत्परता और जागरूकता के साथ मानवीय मूल्यो तथा चारित्रिक विकास का अभियान चलाना है।

'अणुव्रत वर्ष' के कार्यक्रमों पर विचार करके हमने एक सप्तसूत्री योजना बनाई है। उस योजना की प्रस्तुति और क्रियान्विति का उद्देश्य है—अहिसा-प्रधान समाज की संरचना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्धारित सात सूत्र है—

- स्वस्थ समाज का निर्माण
- राष्ट्रीय एकता
- प्रदूषण और पर्यावरण

- व्यसन-मुक्ति
- अहिंसा सार्वभौम
- अणुव्रत और लोकतंत्र
- जीवनविज्ञान

ये सातो सूत्र लोक चिंतन को नया धरातल देकर भौतिकवाद को नियत्रित करेगे, ऐसा विश्वास है।

प्रश्न : विश्वशांति तथा अहिसक वातावरण के निर्माण हेतु आप प्रयत्नशील है। जैन विश्वभारती के माध्यम से आपने इस दिशा मे कई प्रयोग किए है। हम जानना चाहते है कि वे प्रयोग कहां तक सार्थक और सिद्ध हुए और उनसे नई सभावनाए क्या उभरी?

उत्तर : विश्वशांति की चर्चा हम बहुत लम्बे अर्से से कर रहे है। अन्य लोगो की ओर से भी कुछ प्रयत्न हो रहे है। विश्वशाति के साथ हमने अहिसा के प्रशिक्षण की बात जोडी, यह एक नया प्रयोग है। जब तक लोक-जीवन मे अहिसा नही उतरेगी, विश्वशांति का सपना आकार नहीं ले पाएगा।

जैन विश्वभारती ने 'अहिसा प्रशिक्षण शिविर' का आयोजन कर इस दिशा मे पहल की है। यद्यपि इसका यह प्राथमिक प्रयास है, पर जो है वह सन्तोषजनक परिणाम लाने वाला है।

हिंसा विश्वशांति का उपाय नहीं है, यह बात निर्विवाद है। हिंसा को निरस्त करने के लिए नाभिकीय अस्त्रो के परिसीमन मात्र से काम नहीं चलेगा। क्योकि 'शस्त्रपरिसीमन-सन्धि' हिंसक अस्त्र-शस्त्रो के बढते हुए विस्तार को रोक सकती है। उनके प्रयोग को प्रतिबन्धित नहीं कर सकती। समझने की वात यह है कि हिंसा पहले अस्त्र-शस्त्रो से युद्ध के मैदान मे नहीं, मनुष्य के मस्तिष्क मे होती है। अहिसा-प्रशिक्षण का एक विन्दु है—मस्तिष्क का प्रशिक्षण। यह हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है। जिस दिन जैन विश्वभारती वडे पैमाने पर व्यवस्थित रूप में अहिसा-प्रशिक्षण का प्रयोग करेगी, तव ही अहिंसा की शक्ति का वोध हो सकेगा। अभी तो इतना ही कहा जा सकता है कि देश-विदेशो के लोगों

में हुई चर्चा और उनसे प्राप्त प्रतिक्रियाओं के आधार पर जो वातावरण बना है, वह भविष्य के लिए शुभ सूचक है।

प्रश्न : आचार्यश्री। आप 'चरैवेति-चरैवेति' के व्यावहारिक मंत्र-द्रष्टा है। क्या आप अपनी पद-यात्राओं से सन्तुष्ट है?

उत्तर : पदयात्रा हमारा जीवनव्रत है। जीवन भर के लिए जो व्रत स्वीकार किया, उसके पालन मे असन्तोष का तो प्रसंग ही नहीं है। पदयात्रा हमारे सामने कोई बाध्यता की स्थिति नहीं थी। हमने अपनी इच्छा से यह पथ चुना है। इसमे हमे आनन्द की अनुभूति होती है। इससे हमारी अनुभूतियों का दायरा व्यापक बनता है। हमारे मिशन की व्यापकता का एक कारण पदयात्रा भी है। इतने लम्बे समय तक पदयात्रा करने के बाद भी हमारे मन में इसके प्रति कोई अरुचि नहीं है।

आज का युग पदयात्रा की प्रासंगिकता के आगे प्रश्नचिह्न लगा सकता है। पर हमारी दृष्टि मे इसका शाश्वत मूल्य है और स्वयंसिद्ध उपयोग है। हम पदयात्रा को साधना और स्वास्थ्य की दृष्टि से तो आवश्यक मानते ही हैं, यह स्वावलम्बन का भी एक प्रयोग है। जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने का यह सरलतम उपाय है। हमने अपनी छोटी-सी जिन्दगी मे पदयात्रा के माध्यम से लाखो-लाखों लोगो से सीधा सम्पर्क साधा है, उनकी समस्याओ को समझा है और अपनी सीमा में रहते हुए उनका समाधान सुझाया है। वैसे काम की कोई सीमा नहीं है, पर पदयात्राओ को लेकर हमें किसी प्रकार का असन्तोष नहीं है।

प्रश्न : इस वर्ष (सन् १९९१) आपकी जयपुर यात्रा का उद्देश्य क्या है?

उत्तर : हमारी इस बार की जयपुर यात्रा किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित नहीं है। अभी हम राह चलते जयपुर आए है। हमे जैन विश्वभारती, लाडनू जाना था। अजमेर से उसका सीधा रास्ता था। हमने थोडा चक्कर लिया और यहां आ गए। आए तो उद्देश्य भी बन गया। हमने सोचा—गावो में रहकर हम जो कार्य करते हैं, कभी-कभी शहरो मे भी करना चाहिए। शहरों मे प्रबुद्ध लोग

अधिक सख्या मे रहते हैं। वे बात को जल्दी पकड़ सकते है। दूसरी बात—जयपुर के श्रावक समाज की हार्दिक तमन्ना थी कि हम एक बार यहां आएं। इसके लिए यहा की विधानसभा के अध्यक्ष हरिशंकर भाभड़ा, स्वास्थ्यमंत्री ललितकिशोर चतुर्वेदी, शिक्षामंत्री हरिकुमार औदीच्य आदि अधिकारियों ने भी आग्रहपूर्वक अपनी भावना रखी। तीसरी बात—डॉक्टर एस॰ आर॰ मेहता, जो पिछले दो दशको से विशेष रूप से हमारे स्वास्थ्य की देखभाल कर रहे हैं, उन्होंने भी चाहा कि हम एक बार जयपुर आ जाए तो स्वास्थ्य की पूरी जांच हो जाए। ये सब कारण मिले और हमने जयपुर आने का निर्णय ले लिया। जब हम यहां आ गए और हमे कुछ दिन रहना है तो कुछ काम भी करना ही है।

प्रश्न : आपने मेवाड यात्रा (सन् १९९१) को 'अहिंसा यात्रा' घोषित किया था। उस यात्रा की क्या सार्थकता रही?

उत्तर : एक दृष्टि से देखा जाए तो हमारी सभी यात्राए अहिसा यात्राए रही है। मेवाड यात्रा को 'अहिसा यात्रा' के रूप मे घोषित किया गया, इसके पीछे एक विशेष उद्देश्य था। हमारी वह यात्रा मुख्य रूप से राजसमन्द के लिए थी। वहा अहिसा के प्रशिक्षण की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित था। राजसमन्द के 'विश्वशांति निलयम्' मे हमने विश्वभर के विद्वानो के साथ पाच दिनों तक अहिंसा के प्रशिक्षण के विषय में चर्चा की।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मेलन होते रहते हैं। उनमें विश्वशाति की चर्चा होती है। किन्तु शाति की आधारभूमि अहिसा के बारे में इतनी मुक्त और व्यापक चर्चा कम हुई है। उस कान्फ्रेस का उद्देश्य न तो विश्वशान्ति था और न खाडी युद्ध का विराम। ऐसे तात्कालिक मुद्दों पर कभी भी और कहीं भी ध्यान दिया जा सकता है। पर समस्या के मूल तक पहुचना कठिन होता है। हमने सोचा—संसार मे हिसा का प्रशिक्षण चल रहा है, विधिवत् प्रशिक्षण चल रहा है, तीव्रता से चल रहा है। फिर अहिसा की इतनी उपेक्षा क्यो हो? क्या अहिंसा का प्रशिक्षण नहीं हो सकता?

यदि हो सकता है तो उसके महत्त्व को उजागर करना चाहिए। हमे संतोष है कि पांच दिनों में जो कुछ हुआ, कम नहीं हुआ। उससे अहिसा के पक्ष मे सशक्त वातावरण बना। हम चाहते है कि अहिसा के प्रशिक्षण की चर्चा केवल चर्चा तक ही सीमित न रहे। इसकी सम्यक् क्रियान्विति हो। इस सन्दर्भ मे राजसमन्द घोषणा-पत्र भी तैयार हो गया। कुल मिलाकर वह यात्रा और सम्मेलन कल्पना से अधिक सफल रहा।

प्रश्न : आपने देश के इस छोर से उस छोर तक लम्बी-लम्बी पदयात्राए कीं। लाखो-करोडो लोगो से आपका सीधा सम्पर्क हुआ। भारतीय मानस मे आपको कौन-कौन-सी मौलिक विशेषताए महसूस हुई?

उत्तर : तेरापथ धर्मसघ मे मुझ तक नौ आचार्य हो चुके हैं। पूर्ववर्ती आठ आचार्यों की तुलना मे मुझे सर्वाधिक पदयात्रा करने का अवसर मिला। मैं पजाब से कन्याकुमारी और कच्छ से कलकत्ता तक देश मे बहुत घूमा हूं। यात्रा के दौरान लाखों-करोडो लोगों से मिला हू। मैने भारतीय जनता के मन को पढने का प्रयास किया है। मै समझता हूं कि भारतीय मानस की पहली मौलिक विशेपता है—सतो के प्रति सहज श्रद्धा और समर्पण का भाव। यहा का प्रबुद्ध वर्ग धार्मिक क्रियाकाण्डो मे आस्थाशील भले ही न हो, धर्म के प्रति उसकी आस्था प्रगाढ है। मै यहा तक कह सकता हूं कि मुझे इस देश में कोई नास्तिक नहीं मिला। ऐसे लोग भी मुझे मिले, जिन्होने पथम बार धर्म के प्रति अपनी असहमति प्रकट की। किन्तु मानवधर्म या अणुव्रतधर्म के रूप में धर्म की व्याख्या सुनकर वे स्वयं को धार्मिक मानने में गौरव का अनुभव करने लगे।

दक्षिण भारत मे हिन्दी भाषा का भयकर विरोध हुआ। पर मेरी हिन्दी को उन्होंने प्रेम से सुना। मुझे लगा कि वहां विरोध भाषा का नहीं, पोलिटिक्स का था। भारत की मौलिक संस्कृति उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत मे आज भी जीवंत है।

भारतीय जनता की एक विशेषता है सहनशीलता। वह कर्मवाद और भाग्यवाद के सहारे विषम से विषम परिस्थिति को भी शान्ति से सहन कर लेती है। विश्व के दूसरे देशो में छोटी-छोटी बातों को लेकर क्रान्तियां हो जाती है, पर भारतीय लोग बहुत कुछ सहकर भी खामोश रहते है।

प्रश्न : आपने सेवडा गांव में एक सम्बोधन में कहा—'सन्त सुरसरी परसराम चले भुजंगी चाल'। आप इस हिसाप्रधान युग में कौन-सी चाल चल रहे है?

उत्तर : भुजगी चाल से कवि का अभिप्राय यह है कि वे सीधे नहीं चलते। टेढ़े-मेढे रास्तो से जन-जीवन को उपकृत करते हुए चलते है। इससे अधिक लोग लाभान्वित हो सकते है। युग हिसाप्रधान हो या अहिसाप्रधान, इससे संतो की गति में कोई अन्तर नहीं आना चाहिए। अहिसा मे हमारी गहरी आस्था है। हिसा जितनी प्रबल हो रही है, अहिसा में हमारी आस्था उतनी ही बढ रही है। आज तो हमे यह अनुभव होता है कि संसार की समस्याओ का समाधान हिसा के बल पर चाहने वाले लोगो को एक न एक दिन निराश होकर अहिसा की शरण मे आना ही होगा। इस दृष्टि से हमारी अहिंसाप्रधान चाल में किसी अवरोध की सभावना नहीं है।

प्रश्न : आप घरबार का त्याग कर त्यागी बन चुके है। आपकी तपस्या भी बहुत ऊंची है। जनता में आपके प्रति अगाध श्रद्धा है। एक त्यागी-तपस्वी को वैभवशाली स्वागत-सत्कार मे कैसा अनुभव होता है?

उत्तर : मेरा यह अभिमत है कि स्वागत व्यक्ति का नहीं, गुणो का हो। सम्मान त्यागी का नहीं, त्याग का हो। अभिनन्दन तपस्वी का नहीं, तपस्या का हो। त्यागी-तपस्वी व्यक्ति भी स्वागत-सम्मान की आकाक्षा रखेगा तो उसका त्याग-तप बहुत बौना हो जाएगा। शास्त्रो में लिखा है—'**इड्ढि च सक्कारण पूयणं च चए ठियप्पा**'—जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा की स्पृहा को छोडता है, जो स्थितात्मा

होता है, वह ऋषि होता है। गीता का स्थितप्रज्ञ और जैन आगमों का आत्मस्थ ऋषि सत्कार और पूजा की अपेक्षा नहीं रखता। वह उनसे दूर रहना चाहता है। उन लोगो को निमित्त बनाकर अध्यात्म अथवा त्यागप्रधान सस्कृति का स्वागत-सम्मान हो तो उससे अनायास ही अनेक लोगो को अध्यात्म और त्याग की प्रेरणा मिलती है।

जैन मुनि पदयात्री होते हैं। सीमित साधनों से अपना जीवन यापन करते है। उनके लिए वैभवशाली स्वागत-सम्मान क्या होगा? वे तो वैभव की प्रतीक कोई चीज स्वीकार करते नहीं। उस उपलक्ष्य में होने वाले आयोजनो को सादा बनाया जा सकता है। किन्तु उस अवसर पर उपस्थित होने वाले जनसमुदाय को न तो रोकना सभव है और न उसकी अपेक्षा ही है। आयोजक लोग सजगता रखें तो सहजता और सादगी का विकास किया जा सकता है। ऐसे समारोहो की गरिमा इसी से बढती है।

प्रश्न : आपके स्वागत मे कहीं आडम्बर या प्रदर्शन होता है तो आप उसका निषेध क्यो नहीं करते? उस अवसर पर लगने वाली राशि से अभावग्रस्त लोगों के लिए वहुत कुछ किया जा सकता है।

उत्तर : हमारा विश्वास बाध्यता मे नहीं, हृदय-परिवर्तन मे है। हमने अपने जीवन मे ऐसे अनेक प्रयोग किए है, जिससे परम्परागत तरीको मे बदलाव आया है। आज भी हमे जहां कहीं अतिरेक लगता है, हम तत्काल उस पर टिप्पणी करते हैं। पडाल और नगर की सजावट का प्रसग हो या अभिनन्दन-पत्रों की प्रतिस्पर्द्धा का। हमने इस सन्दर्भ में समाज को अपने दृष्टिकोण से अवगत किया है। यही कारण है कि विगत कई वर्षो से समाज की संस्थाओं की ओर से न तो अभिनन्दन-पत्र भेट किए जाते है और न शहर मे पग-पग पर स्वागत द्वारो का हुजूम रहता है। व्यवस्थाओ मे भी काफी कुछ बदलाव आया है।

एक बात और है—अभिनन्दन, प्रशस्ति, स्वागत आदि मे

हमारी विशेष रुचि भी नहीं है। हमने अपने जीवन में अभिनन्दन और आलोचना—दोनों की अतियां देखी हैं। बड़े-से-बड़ा अभिनन्दन और बडी-से-बडी आलोचना। इन दोनो स्थितियों मे हमने अपने सन्तुलन को टूटने नहीं दिया, यह हमारे लिए सात्विक गौरव की बात है। हमारे चिन्तन के रास्ते सदा खुले हैं, जहा कहीं अतिरंजन की बात सामने आती है, उस पर रोक लगाने मे हमे कोई कठिनाई नहीं होती।

आर्थिक दृष्टिकोण का जहां तक सवाल है, समाज के लोग स्वयं सचेत हुए है, हो रहे हैं। वे सामाजिक उपयोगिता और अभावग्रस्त लोगों की आवश्यकता को गंभीरता से लेते हैं तथा उस क्षेत्र मे योजनाबद्ध तरीके से काम भी करते हैं। समय और परिस्थिति के अनुकूल हम भी अपनी सीमाओ में रहते हुए समाज का मार्गदर्शन करते है। समाज उसे पकडता है तथा अपने चिन्तन और कार्य की दिशाओ को परिष्कृत करता है। फिर भी पूरा समाज एक साथ बदल जाए, यह कल्पना तो नहीं की जा सकती।

प्रश्न : आपके मन, वचन और कर्म मे जो तरुणिमा है, उसका श्रेय किसे देना चाहिए?

उत्तर : किसे देना चाहिए इसका श्रेय। कुछ समझ में नहीं आता। किसी एक तत्त्व का नाम बताऊगा तो प्रश्न समीचीन रूप से उत्तरित नहीं होगा। मेरी दृष्टि में इसका सर्वाधिक श्रेय मिलना चाहिए पूज्य गुरुदेव कालूगणी को, जिन्होंने प्रारम्भ से ही मेरा निर्माण किया। मै मानता हूं कि मेरे जीवन मे जो कुछ है, सव उनका ही दिया हुआ है। उन्होंने मुझे संतुलित जीवन जीने का प्रशिक्षण दिया। अति हर्ष और विषाद, अति श्रम और विश्राम आदि अतियो से वचे रहने के कारण मैं आज भी अपने आपको तारुण्य की दहलीज पर खडा अनुभव कर रहा हूं।

मेरी इस स्थिति मे सहायक तत्त्व है पचीस-तीस वर्ष से किया जाने वाला यौगिक अभ्यास। कुल मिलाकर योगासन, खाद्य-संयम, लम्वी यात्राएं और उनसे प्राप्त अनुभव—इनको मै

अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का हेतु मानता हूं।

इस श्रेय का कुछ हिस्सा मै अपने साधु-साध्वियों को भी देना चाहूंगा। वे मुझे काम मे इतना उलझाया हुआ रखते है कि मै कभी निकम्मा नहीं रहता। कर्मशील व्यक्ति स्वस्थ और प्रसन्न रह सकता है, इस विश्वास के साथ मै सतत निर्माण-कार्य में लगा रहता हू और प्रसन्नता का अनुभव करता हूं।

एक तत्त्व का और उल्लेख करके मै इस विषय को सपन्न करना चाहूंगा। वह तत्त्व है—मानसिक प्रसत्ति। मै अपने जीवन के क्षणो को अधिक से अधिक प्रसत्तिमय देखना चाहता हू और स्वीकार करता हूं कि अतिआशा तथा निराशा—इन दोनो स्थितियो मे रहने वाला सन्तुलन मानसिक प्रसन्नता का सबसे बडा रहस्य है। कुछ वैयक्तिक और सामूहिक तत्त्व और भी है, जिनको उक्त सदर्भो मे समाविष्ट किया जा सकता है।

प्रश्न : आप जन-साधारण के लिए दुर्लभ क्यो होते जा रहे है?

उत्तर : हम जितने सुलभ है, इससे अधिक सुलभता क्या होगी? जन-साधारण के लिए दुर्लभ होने की बात हमारी समझ मे नही आई है। हमारी अपनी साधना और चर्या का जो समय है, उस समय तो जन-सम्पर्क से बचना ही होगा।

प्रश्न : आपके प्रवचनो मे जैनदर्शन की अपेक्षा राष्ट्रीय विचारो का अधिक समावेश है। शायद यही कारण है कि आप जैनाचार्य से अधिक राष्ट्र-सत के रूप में जाने जाते है। राष्ट्रीय दृष्टिकोण व्यापकता का प्रतीक है पर आप तो जैन मत या तेरापन्थ के आचार्य है। क्या यह विसंगति नहीं है?

उत्तर : मेरे प्रवचनो मे राष्ट्रीय विचारों का नहीं, मानवीय विचारो का समावेश रहता है। मुझे कोई राष्ट्र-सत माने या न माने, मै अपने आपको मानवधर्म का प्रवक्ता मानता हू। मानवीय मूल्यो की व्याख्या करके मै जैनधर्म और तेरापथ के साथ भी न्याय ही करता हू। मेरे अभिमत से तेरापंथ और जैनधर्म की विचारधारा मानवधर्म की विचारधारा है। जो विचारधारा जैसी है, उसे उस

रूप मे प्रस्तुति देना विसगति कैसे हो सकती है? छुआछूत, जातिवाद, वर्गवाद, रूढिवाद आदि तत्त्व जैनधर्म में मान्य नहीं हैं। मानवधर्म भी यही कहता है। ऐसी स्थिति मे जैनधर्म के साथ जो अवाछित बातें जुड गई हैं, उन्हे दूर कर उसे मानवधर्म के रूप में प्रतिष्ठित करना प्रत्येक जैन का कर्तव्य है।

प्रश्न : एक धर्मसघ के आचार्य होते हुए भी आप तेरापंथ के विस्तार की चर्चा न कर 'कर्मणा जैन' के अभियान पर इतना बल क्यों दे रहे है?

उत्तर : मै एक धर्मसंघ का आचार्य हूं तो क्या जैनाचार्य नही हूं? वल्कि यह कहना चाहिए कि मै जैनधर्म का आचार्य पहले हूं, तेरापथ का आचार्य बाद मे। तेरापंथ तो जैनधर्म का ही एक अग है। जैनत्व का प्रचार तेरापंथ का प्रचार है और तेरापथ का प्रचार जैनत्व का प्रचार है। जैन और तेरापंथ—इन दोनो को विभक्त नहीं किया जा सकता। मेरी दृष्टि मे सच्चा तेरापथी वही है, जो सच्चा जैन है और सच्चा जैन वही है, जो सच्चा तेरापथी है—प्रभु के पथ का राही है।

जिज्ञासा हो सकती है कि जैनधर्म और तेरापथ मे इतना तादात्म्य है तो तेरापंथ नाम से किसी धर्मसघ को चलाने की अपेक्षा ही क्या थी? वास्तव मे ऐसी कोई अपेक्षा नहीं थी। आचार्य भिक्षु का ऐसा इरादा भी नहीं था। पर अनायास ही उनकी धर्मक्रांति को नाम मिल गया, वह लोगो की जुवान पर इतना चढ गया कि उसे स्वीकार करना पडा। तेरापथ को जैनत्व का सवादी बनाए रखने के लिए ही तो इसकी व्याख्या नये ढग से की गई। यदि जैनधर्म अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त नही होता तो तेरापंथ को भी साम्प्रदायिक नजरिये से नहीं देखा जाता। खैर, अतीत मे कुछ भी हुआ हो, आज तो तेरापंथ जैनधर्म की पहचान वन रहा है। इस स्थिति मे 'कर्मणा जैन' का यह नया अभिक्रम तेरापथ का अपना कार्यक्रम वनकर प्रभावी वनेगा।

प्रश्न : विश्वक्षितिज पर अव आपका पुरुपार्थ वोलने लगा है। ऐसी स्थिति

में संघ और समाज का दायित्व विशेष रूप से बढ़ा है। क्या आपकी दृष्टि मे अभी जो कुछ हो रहा है, वह पर्याप्त है? क्या प्रचार-प्रसार के माध्यमो से आपको संतोष है?

उत्तर : हमें अपने कार्यक्रमो और प्रचार-माध्यमो से असंतोष तो नहीं है, पर हम यह भी स्वीकार करते है कि वे पर्याप्त नहीं हैं। आज हमारे देश मे व्यापक समस्याएं है। समस्याओ की बहुलता को देखते हुए व्यापक साधनों और व्यापक काम की अपेक्षा है। फिर भी हम अपनी कार्यपद्धति को राजनीति का रूप नहीं देना चाहते। राजनीति के लिए आज यह कहा जाता है कि वहा थोथा प्रचार बहुत होता है, पर काम नहीं होता। हम काम करना चाहते है, योजनाबद्ध ढग से काम करना चाहते है। हमारे काम को प्रसारित करने वाला स्वस्थ मीडिया उपलब्ध हो तो उसका उपयोग करने मे हमे कोई कठिनाई नहीं है।

यों तो आज प्रचार का युग है। गलत चीज को भी विज्ञापनो की चमक देकर लोकप्रिय बनाया जा सकता है। पान-पराग, शराब, सिगरेट आदि नशीली वस्तुओ के विज्ञापन कितने बढे-चढे होते है। ऐसी प्रक्रिया को अस्वीकार करते हुए भी हम चाहेगे कि हमारे नैतिक और लोककल्याणकारी कामों की आवाज देश के हर आदमी तक पहुचे। यदि जनता को ऐसे कार्यक्रमो की जानकारी ही नहीं मिलेगी तो वह अपने जीवन के नैतिक पक्ष को मजबूत करने की दिशा मे सोच ही नहीं पाएगी।

प्रश्न : आप सन्त है। सारी मानव जाति के उद्धार के लिए व्याकुल है। विश्वशाति और समृद्धि आपका लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आप क्या कर रहे है? इसके लिए आपने किस मार्ग का अवलम्बन लिया है? कृपया इस सबंध मे समुचित मार्गदर्शन करें।

उत्तर : हम अपनी साधना के बारे मे सोचते है तो विश्व के संदर्भ मे भी चिन्तन करते है। आध्यात्मिक या व्यापक दृष्टि वाले व्यक्ति चाहते है कि पूरी मानव जाति का कल्याण हो। हमारे मन मे

भी वह तडप है। सन्तो की दो श्रेणिया होती है। कुछ सन्त केवल आत्मसाधना का लक्ष्य लेकर चलते है और कुछ आत्मसाधना के साथ जन-कल्याण की वात भी सोचते है। हमने अपनी साधना के साथ जनता को पथदर्शन देने की बात भी स्वीकृत की है। व्यक्तिगत समस्याओ का समाधान व्यक्तिगत स्तर पर सुझाते रहे हैं। सार्वभौम समस्याओं से निपटने के लिए हमने अणुव्रत का अभियान शुरू किया। वैसे हमारी आस्था यह है कि किसी का कल्याण कोई दूसरा नही कर सकता। अपने कल्याण की जिम्मेवारी स्वयं पर है। मार्गदर्शक या प्रेरक के रूप मे कोई व्यक्ति निमित्त वन सकता है। अणुव्रत के माध्यम से हम जनकल्याण के निमित्त जरूर वन रहे है। पर इसके लिए पुरुपार्थ तो व्यक्ति-व्यक्ति को करना होगा। जो मनुष्य अणुव्रत के आदर्शो के अनुसार चलेगा, वह अपना उद्धार निश्चित रूप से कर सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रश्न : क्या आप यह महसूस करते है कि आपके उपदेश का असर दूसरो की अपेक्षा आपके निकटवर्तियो पर कम होता है? यदि यह यथार्थ है तो इसका क्या कारण है?

उत्तर : मै इस बात से सहमत नहीं हूं कि उपदेश के असर मे निकटता या दूरी कोई कारण वनती है। वहुत-बार ऐसा होता है कि दूर रहने वाले व्यक्ति स्पष्ट रूप से कहने पर भी जो परिवर्तन नही कर पाते, वार-वार सपर्क मे आने वाले व्यक्ति इंगित मात्र से वैसा कर लेते है। उपदेश मे वक्ता की क्षमता का योग रहता है पर उससे भी अधिक मूल्यवान् है--श्रोता की ग्रहणशीलता। फूटे हुए घडे मे पानी डाला जाए तो घडा भर नहीं सकता, चाहे उसमें कितना ही पानी क्यो न डाला जाए। चिकने घडे के ऊपर कितना ही पानी गिराया जाए, एक वूद भी वहा टिकेगी नहीं। इसी प्रकार जो व्यक्ति रूढ़ वन गये है, जिन्हे अपनी वृत्तियो मे परिवर्तन की अपेक्षा महसूस नही होती वे तव तक उपदेश से लाभान्वित नही हो सकेंगे, जव तक उनकी रूढता समाप्त

नहीं होगी। कुछ व्यक्ति ऐसे भी है जो रूढ नहीं हैं। पर जब तक परिवर्तन का दृष्टिकोण नहीं बनता, तब तक उपदेश भी अकिंचित्कर रहता है। कुछ व्यक्ति विशेष परिस्थितियों की बाध्यता से भी उपदेश को आचरण मे नही उतार सकते। मै यह मानता हू कि व्यक्ति दूर रहता हो या निकट, जैन हो या अजैन, जिसके मन पर मेरी अच्छी बातो का प्रभाव होता है वह मानसिक दृष्टि से मेरे अत्यन्त निकट है।

प्रश्न : तेरापन्थ के विस्तार को देखते हुए आपको एक नेतृत्व की लक्ष्मणरेखा ही पर्याप्त लगती है अथवा निकट भविष्य में एतद्विषयक कोई नई परिकल्पना आपके उर्वर मस्तिष्क मे है?

उत्तर : एक आचार्य के नेतृत्व की बात आचार्य भिक्षु की मौलिक सूझबूझ है। इसके कारण तेरापथ धर्मसघ का जो विकास हुआ है, वह सबके सामने है। जिस लक्ष्मणरेखा मे सघ का योगक्षेम हो रहा हो, उसका विकल्प खोजने की बात का औचित्य ही क्या है?

सघ के विस्तार और कार्यो की अधिकता का जहा तक सवाल है, कार्य-विभाजन की नीति मे मेरा विश्वास है। अलग-अलग कार्यो का दायित्व अपेक्षा के अनुसार किसी को भी सौपा जा सकता है। पर चोटी एक हाथ मे रहनी चाहिए। जयाचार्य की शिक्षा यही है—'सम्पति राखै हाथ'। अनुशासन का सूत्र आचार्य के हाथ मे रहे, यह आवश्यक है। जनतान्त्रिक प्रणाली मे भी अन्तिम निर्णय प्राय· एक व्यक्ति करता है। अनेक व्यक्तियों के हाथ मे चाबी रहे तो कुछ न कुछ गडबड़ी की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रश्न : क्या आपका साधु-समाज रूढ परम्पराओ से मुक्त है? यदि नहीं तो उससे पहले समाज-सुधार की बात कहां तक सफल होगी?

उत्तर : यह प्रश्न परम्पराओं से मुक्त या अमुक्त होने का न होकर जागरूकता से सम्बन्धित होना चाहिए। कोई भी समाज जो संगठित है, व्यवस्थित है और समाज नामक सस्था को अपनी स्वीकृति देता है, परम्पराओं से मुक्त नहीं हो सकता। जहा

परम्पराए हैं, वहा रूढ परम्पराए भी हो सकती है। परम्परावादिता समाज का पोषक तत्त्व है। यदि सब परम्पराओं को तोड दिया जाएगा तो समाज स्वय छिन्न-भिन्न हो जायेगा। परम्पराओ के सम्बन्ध में कुछ चिन्तनशील व्यक्तियो का अभिमत है कि परम्परा-परिवर्तन करते समय बहुत अधिक सतर्कता की अपेक्षा है। प्रमाद और उतावली मे किया गया परिवर्तन कभी-कभी घातक परिणाम भी ला सकता है।

हमारा साधु-समाज अपने धर्मसंघ की शालीन परम्पराओ को बहुत अधिक महत्त्व देता आया है और देता रहेगा। अब प्रश्न रहा रूढ परम्पराओ का। जो परम्पराए सघ के लिए अनुपयोगी है, विकास मे वाधक है और समाज को प्रगति के स्थान पर प्रतिगति की ओर ले जाती है, उन रूढ परम्पराओ से साधु-समाज मुक्त है या नहीं? इस विषय मे वह कितना जागरूक है? ये प्रश्न अवश्य महत्त्वपूर्ण है। मेरे अभिमत से साधु-समाज इस दिशा मे जागृत रहा है और युगीन परिवेशो के अनुसार जागरूक हो रहा है। रूढ परम्पराओ के सम्वन्ध मे सघ की अन्तरग गोष्ठियो मे चिन्तन-मन्थन के वाद चिन्तन की क्रियान्विति भी होती रही है। हमारे चिन्तन के झरोखे सदा खुले रहते हैं। ऐसी स्थिति मे साधु-समाज अपने सघ के लिए भारभूत परम्पराओ का भार नही ढो सकता। जो समाज स्वय के प्रति जागरूक होता है, वही व्यापक स्तर पर समाज-सुधार की दिशाए उद्घाटित कर सकता है। ऐसा होना न अयौक्तिक है और न अव्यावहारिक।

प्रश्न : तेरापन्थ श्रावक समाज नित नए समारोहो की आयोजना को क्या भार-स्वरूप अनुभव नहीं कर रहा है?

उत्तर : तेरापन्थी धर्मसंघ मे केवल आयोजन के लिए कोई आयोजन नहीं होता। जिस समय जिस वर्ग या क्षेत्र मे कार्य को गति देने की अपेक्षा होती है, कार्यक्रम का निर्धारण कर लिया जाता है। कुछ समारोह सघीय दृष्टि से निर्धारित है। कुछ आयोजन अधिवेशनों के रूप में होते है। इनका दायित्व सम्वन्धित वर्गो

या व्यक्तियो पर रहता है। वैसे ये आयोजन आडम्बर और प्रदर्शन-प्रधान नही होते। कभी कहीं प्रमाद हो जाता है तो अविलम्ब उसको सुधार लिया जाता है। ऐसी स्थिति में अतिरिक्त भार बढने का प्रसंग उपस्थित नही हो सकता।

अनिवार्य आयोजनों का जहा तक सवाल है, उनको भार महसूस करे, वह समाज जागृतसमाज की कोटि मे नहीं आ सकता। समाज में विकास के लिए नए आयाम उद्‌घाटित करने के लिए जहां सजगता और उत्साह न हो, वह समाज ही क्या? तेरापंथ समाज इस दिशा मे जागरूक है। उसने अपने दायित्व को दायित्व की दृष्टि से देखा है, भार नहीं माना। अन्य समाजो मे जहां एक चार्तुमास्य मे खान-पान की व्यवस्था मे लाखो का बजट होता है, वहां समाज के लिए उपयोगी एव स्थायी रचनात्मक कार्यो के लिए अवकाश ही नहीं रहता। तेरापन्थ समाज औचित्य के साथ व्यवस्थाओ मे सुघडता रखता है। मुफ्तखोरी की परम्परा से ऊपर उठकर विकासमूलक कार्यो मे अपनी शक्ति का नियोजन करता है।

प्रश्न : 'राष्ट्रीय एकता परिषद' मे आपका चयनित होना हम सबके लिए गौरव की बात है। इस दृष्टि से आप राष्ट्र को क्या नया संदेश देना चाहते है? राष्ट्रीय एकता को बल देने के लिए क्या यह जरूरी नहीं है कि आपका प्रवास दिल्ली मे हो?

उत्तर : 'राष्ट्रीय एकता परिपद' का गठन राष्ट्र की एकता और अखण्डता को पुष्ट करने के लिए किया गया है। उसमे दृष्टिकोण का व्यापक रखा गया है। व्यापक दृष्टि के कारण ही सब वर्गो को प्रतिनिधित्व दिया गया है। उसमे लिये गए अनेक नामो मे एक नाम मेरा भी है। राष्ट्रीय एकता का काम हमारे लिए नया नहीं है। परिषद मे चयनित होने से पहले भी हमारे कार्यक्रमो का एक हिस्सा राष्ट्र मे भावात्मक एकता की दिशा मे ठोस प्रयास करता रहा है। यह प्रयास तब तक चलता रहेगा, जब तक हमारा लक्ष्य पूरा नहीं हो जाएगा।

'राष्ट्रीय एकता परिषद' के मंच से राष्ट्र के नाम अपने सदेश मे सबसे पहले मुझे यही कहना है कि आज स्थान-स्थान पर राष्ट्र की एकता को विखण्डित करने वाली जो हरकतें हो रही है, उनसे राष्ट्र का ही नहीं, समूचे विश्व का अहित होता है। इस व्यापक अहित को रोकने का काम किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष का नहीं, सबका है। व्यक्तिवादी मनोवृत्ति या स्वार्थपरायण-वृत्ति वाले लोग इस दिशा मे सक्रिय रहते है। उन्हे परार्थ और परमार्थ की दिशा मे प्रेरित किया जाए। ऐसे व्यक्तियो और सगठनों को रचनात्मक कामो के साथ जोडा जाए तथा राष्ट्र के किसी भी कोने मे एकता को कमजोर करने वाली घटना हो, अविलम्ब उसका सशक्त प्रतिकार किया जाए।

'राष्ट्रीय एकता परिपद' मे चयनित होने के बाद मैं अपना कार्यक्रम दिल्ली का बनाऊ, ऐसा कई लोगो का चिन्तन रहा। पर दिल्ली हो या कोई अन्य क्षेत्र, हम एक स्थान पर अधिक समय तक नही रहते। हम पदयात्रा करते है और गांव-गाव घूम कर अपने मिशन को जनता तक पहुंचा रहे है। ऐसी स्थिति मे परिपद की मीटिग मे साक्षात उपस्थित रहना सभव नहीं लगता। पर हम अपने अनुभव और विचार वहां प्रेषित करने का प्रयत्न करते रहेगे।

प्रश्न : राष्ट्रीय एकता का क्या अभिप्राय है? क्या सम्पूर्ण राष्ट्र अखण्ड रूप में एक हो सकता है? यदि नहीं तो आपकी राय मे राष्ट्रीय एकता कैसे सध पाएगी?

प्रश्न : राष्ट्रीय एकता सापेक्ष शब्द है। अनेक राज्यों, शहरो, गावों मे वटा हुआ राष्ट्र किसी अपेक्षा से ही एक हो सकता है। जब राष्ट्र मे भेद है और उनकी उपयोगिता है तो निरपेक्ष एकता न तो सध सकती है और न वह उपयोगी हो सकती है। सापेक्ष एकता का पहला विंदु है देश के नागरिको की कर्त्तव्यनिष्ठा। वे अपने विचारो, कार्यो और व्यवहारो से किसी का अहित न करे। किसी का हित हो सके या नहीं, कम-से-कम अहितकारी

प्रवृत्तियों को हतोत्साह कर दिया जाए, यह भी एक बडा काम है।

राष्ट्रीय एकता के विघटन का बीज देश के विभाजन के साथ ही बो दिया गया था। विगत कुछ दशको से वह अधिक जोर पकड रहा है। सत्ता-लिप्सा, स्वार्थी मनोभाव, अप्रामाणिकता, एकांगी चिंतन आदि कुछ ऐसी प्रवृत्तियां है, जो राष्ट्रीय एकता के प्रासाद की बुनियाद को हिलाने वाली है। साप्रदायिकता, जातिवाद, भाषावाद, अलगाववाद आदि की मानसिकता भी एकता में बाधक है।

जो लोग एकता मे रस लेते है, उनका दायित्व है कि वे विघटनकारी प्रवृत्तियो से स्वय बचें तथा औरो को बचाएं। अन्यथा उनकी आकांक्षा शाब्दिक बनकर रह जाएगी। आश्चर्य तो इस बात का है कि राष्ट्रीय एकता के प्रश्न पर भी पार्टी पॉलिटिक्स सामने आ रही है। पर यह प्रश्न न तो राजनीति का है और न धर्मनीति का है। सभी नीतियो के लोग एक साथ बैठे, व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर चितन करे और उसकी क्रियान्विति मे विलंब न करे तो निश्चित रूप से कोई परिणाम आ सकता है।

प्रश्न आपने अपने जीवनकाल मे ही आचार्यपद का विसर्जन कर एक आदर्श परंपरा का सूत्रपात किया है। अब आप आचार्यपद के दायित्व से मुक्त है, आपको कैसा महसूस हो रहा है? आपके नए कार्यक्रम क्या होगे?

उत्तर . मैने अपने जीवनकाल मे आचार्यपद का विसर्जन कर किसी परपरा का सूत्रपात नहीं किया है। इस संबध में मैं अनेक बार कह चुका हूं कि यह मेरा अपना प्रयोग है। इसे परपरा न बनाया जाए। आचार्य पद का विसर्जन करने के बाद मै अपने आपको हल्का अनुभव कर रहा हूं। शासन-नियन्ता होने के कारण धर्मसघ की प्रत्येक गतिविधि पर मेरी नजर अवश्य रहती है। किन्तु मुझ पर जो दायित्व था, उससे मै सर्वथा मुक्त हूं।

मेरे नए कार्यक्रम की नाभिकीय प्रेरणा है अध्यात्म। मै स्वय अध्यात्म के गंभीर प्रयोग करना चाहता हू और उसे व्यापक बनाने के प्रयास में अपनी शक्ति का नियोजन करना चाहता हूं। मेरे अभिमत से अध्यात्म और विज्ञान एक-दूसरे से अलग रहकर दोनों अपूर्ण हैं। मेरा प्रयत्न रहेगा कि इनमे सामजस्य स्थापित हो। इस दृष्टि से कहीं से भी कोई कार्यक्रम चलेगा, उसमे मेरा सक्रिय योगदान रहेगा। मानव-सेवा की वात इससे बढकर और क्या हो सकती है।

अध्ययन-अध्यापन मे मेरी सहज रुचि है। साहित्य-सृजन भी मेरी रुचि का विषय है। इस दृष्टि से शैक्षिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियो मे स्वय सक्रिय रहता हुआ मै साधु-साध्वियो को भी इस दिशा मे प्रेरित करता रहूगा।

प्रश्न : जैसा कि आपने आचार्य पद का विसर्जन किया है, क्या 'अणुव्रत अनुशास्ता' पद को लेकर भी आपका कोई चितन है?

उत्तर : 'अणुव्रत अनुशास्ता' कोई पद नहीं है। न तो किसी ने मुझे यह पद दिया और न मैने इस सवोधन को पद की दृष्टि से स्वीकार ही किया। यह तो एक विशेषण है। पहले मुझे अणुव्रत आदोलन का प्रवर्तक कहा जाता था। इन वर्षो मे 'अणुव्रत अनुशास्ता' शव्द अधिक प्रचलित हो गया। अनुशास्ता का अर्थ है प्रशिक्षक। अणुव्रत का प्रशिक्षण देना मेरे कार्यक्रमो का एक अंग है। इसलिए डस शव्द-प्रयोग पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है। यदि इसे पद माना जाता है तो मै इससे मुक्त होने की वात भी सोच सकता हू।

प्रश्न : आपके (सन् १९९४-९५ के) एक वर्षीय दिल्ली प्रवास की अवधि मे अनेक रचनात्मक कार्यो की शुरुआत हुई। लोकतत्रशुद्धि एव शिक्षापद्धति मे परिवर्तन के कार्यक्रमो को लेकर उल्लेखनीय कार्य हुए। अव आपने राजस्थान जाने की घोपणा कर दी है। इतने समय तक आपने जिन कामों मे अपनी शक्ति लगाई, क्या वह व्यर्थ नहीं जाएगी? जव आप आचार्य पद से मुक्त हो चुके

है तो क्या यह उचित नहीं होगा कि आप राजधानी मे ही रहकर इन कार्यों को सतत गतिमान बनाए रखें?

उत्तर : हमारे इस बार के दिल्ली प्रवास मे दो कार्यो पर ध्यान केंद्रित रहा—लोकतंत्रशुद्धि और शिक्षा मे परिवर्तन। दोनो क्षेत्रो मे सोद्देश्य काम किया गया। उसके परिणाम भी सामने आए। लोकतंत्रशुद्धि कार्यक्रम को गतिशील बनाए रखने के लिए 'अणुव्रत संसदीय मच' की स्थापना एक आशा जगाती है। वैसे हमारे पास कोई जादू का डडा तो है नहीं, जो चुटकी बजाते ही काम पूरा करवा दे। कार्य का प्रारभ एक बात है, उसे निष्पत्ति तक पहुचने में समय लगता है।

शिक्षा के क्षेत्र मे 'जीवन-विज्ञान' के बारे मे जिज्ञासा ही नहीं, आस्था भी जाग रही है। सरकारी स्तर पर और व्यक्तिगत स्तर पर भी शिक्षाधिकारियों ने यह निर्णय लिया है कि अध्यापको को प्रशिक्षित कर जीवन-विज्ञान पाठ्यक्रम के अनुसार अध्ययन कराया जाएगा। इस दृष्टि से अध्यापकों के अनेक शिविर आयोजित हुए और कार्य आगे बढने की सभावना बढी है।

कार्य को अधूरा छोडकर जाने की बात ध्यान देने योग्य अवश्य है, पर कोई भी काम कभी पूरा होता है क्या? भारतीय सस्कृति के आदर्शपुरुषो मे राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, गांधी आदि न जाने कितने विशिष्ट पुरुष हो गए। अपने-अपने युग मे सबने काम किया। क्या उनके बाद उस काम की अपेक्षा नहीं रही? जब तक ससार है, काम करने वाले आते रहेगे, जाते रहेंगे और काम होता रहेगा। आज तक कोई भी महापुरुष ऐसे नही हुए, जिन्होने करणीय कामो को नि:शेष कर दिया हो। फिर हमारी क्या औकात है कि हम प्रारभ किए गए हर कार्य को पूरा कर ही देगे। फिर भी हमारा लक्ष्य है कि हम देश की राजधानी मे रहें या राजस्थान में रहे, काम करते रहेगे। इस सन्दर्भ मे आचार्य हेमचद्र की विचार-सरणी हमारा मार्गदर्शन कर रही है। उन्होने लिखा है—

स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न कि,
गुणानुरागस्तु ममापि निश्चल.।
इद विनिश्चित्य तव स्तवं वदन्,
न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ॥

प्रभो! आपकी स्तवना कर सके, इतना सामर्थ्य योगियो मे भी नहीं था। फिर भी आपके प्रति होने वाले गुणानुराग से प्रेरित होकर उन्होने आपकी स्तुति की। वह गुणानुराग मेरे मन मे भी है। यही सोचकर अबोध होने पर भी मै आपकी स्तवना कर रहा हूं। ऐसा करके मै अपराध का भागी नहीं बनूंगा।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र का अनुकरण करता हुआ मै यही मानता हूं कि जब हमारे विशिष्ट शक्तिसम्पन्न पूर्वज भी अपने शुरू किए हुए काम पूरे नहीं कर सके तो मै अपने कार्यो की संपूर्ति का मिथ्या अह क्यो करू?

प्रशन : आपके शिष्य सैकडो की सख्या मे है। वे क्या करते है?

उत्तर : उनका सबसे पहला काम है अपनी साधना और चर्या से सम्बन्धित कार्यो का सम्पादन। उनमे स्वाध्याय, ध्यान, जप, प्रतिक्रमण, भिक्षाचरी आदि अनेक प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। प्रवचन, यात्रा, जनसम्पर्क आदि भी उनके दैनिक कार्य है। सेवा, शिक्षा, कला, साहित्य आदि क्षेत्रो मे भी उनकी पूरी सभागिता रहती है। आगम-सम्पादन हमारी एक प्रमुख प्रवृत्ति है। उसमे पचासो साधु-साध्विया संलग्न है। आगमो की मूल भाषा प्राकृत है। पाठ सम्पादन के साथ आगम साहित्य को सस्कृत, हिन्दी और अग्रेजी भाषा में प्रस्तुत करने का काम भी हो रहा है। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान—ये दोनो हमारे व्यापक कार्यक्रमो मे प्रमुख हैं। साधु-साध्वियां इनके प्रशिक्षण और प्रयोग मे भी,आवश्यक समय लगाते है।

प्रश्न : आप दो-चार वर्प के अन्तराल से किसी न किसी वर्प का आयोजन करते रहे है। 'भिक्षु चेतना वर्ष' की उद्घोपणा भी उसी परम्परा

का निर्वहन मात्र है अथवा वह लीक से हटकर खींची गई कोई नई रेखा है?

त्तर : केवल परम्परा-निर्वाह के लिए हमने कभी कोई वर्ष नहीं मनाया। इस रूप में किसी वर्ष को मनाने का महत्त्व भी नही है। अब तक जितने वर्ष मनाए गए, किसी न किसी विशेष उद्देश्य की प्रेरणा से मनाए गए। प्रत्येक वर्ष का उद्देश्य उसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। जैसे—अनुशासन वर्ष, सयम वर्ष, स्वाध्याय वर्ष, अणुव्रत वर्ष आदि। अमृत-महोत्सव वर्ष, योगक्षेम वर्ष आदि का उद्देश्य नाम के उच्चारण मात्र से स्पष्ट नहीं होता। पर इनकी पृष्ठभूमि मे हुए चिन्तन-मन्थन ने इनके उद्देश्यो को अच्छे ढग से विश्लेषित कर दिया। 'भिक्षु चेतना वर्ष' मनाने का सीधा-सा उद्देश्य है—आचार्य भिक्षु द्वारा जगाई गई अनुशासन, समर्पण, श्रद्धा और आचारनिष्ठा की चेतना को जन-जन मे जगाना।

श्न : आचार्य भिक्षु के जन्म, अभिनिष्क्रमण, परिनिर्वाण आदि के साथ कोई सम्बन्ध न होने पर भी चालू वर्ष (वि.स. २०४९) को 'भिक्षु चेतना वर्ष' के रूप में मनाने की क्या प्रासगिकता है?

उत्तर : यह बात सही है कि इस वर्ष के साथ आचार्य भिक्षु के जीवन से सम्बन्धित किसी ऐतिहासिक प्रसंग का योग नहीं है। योग है तो इतना ही कि इसका प्रारम्भ १९०वें भिक्षु निर्वाणमहोत्सव के दिन हुआ। इस वर्ष की रूपरेखा निर्धारित करते समय भी यह प्रश्न सामने आया था। सोचा यह गया कि इस वर्ष के निमित्त से हमें पूरे समाज की चेतना को जगाना है। चेतना-जागरण का जो स्वरूप चर्चित हुआ, उस दृष्टि से कुछ अनुसन्धान भी करना होगा। एक दृष्टि से यह पूरे अतीत की समीक्षा का वर्ष होगा। इन दो सौ वर्षो में हमारी परम्पराओ और व्यवस्थाओं मे कौन-कौन से परिवर्तन हुए? क्यो हुए? आचार्य भिक्षु के दर्शन और चिन्तन मे इन परिवर्तनो से कोई विसंगति तो नहीं आती? उन्होने किस परिप्रेक्ष्य मे क्या कहा? और आज किस परिप्रेक्ष्य मे क्या हो रहा है? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों पर विचार ही

नहीं करना है, उनमे संगति स्थापित करना है।

वह युग आस्था का था। आज समाज मे प्रबुद्धता बढ रही है। प्रबुद्ध लोग भी आचार्य भिक्षु की चेतना से प्रभावित हो, यह आवश्यक लगा। इसके लिए किसी अवसर की प्रतीक्षा क्यों की जाए? आचार्य भिक्षु और उनकी चेतना तेरापन्थ धर्मसंघ के लिए हर क्षण प्रासंगिक है। यही इस वर्ष को मनाने की प्रासंगिकता है।

प्रश्न : तेरापन्थ समाज के बच्चे-बच्चे मे आचार्य भिक्षु के प्रति असीम आस्था है। क्या 'भिक्षु चेतना वर्ष' में उनको जन साधारण मे प्रतिष्ठित करने के लिए कोई विशेष उपक्रम किया जायेगा?

उत्तर : महापुरुषो का व्यक्तित्व और कर्तृत्व ऐसा होता है कि उसे प्रतिष्ठित करने के लिए वडे स्तर पर किसी उपक्रम की अपेक्षा नहीं रहती। थोडे से प्रयास से उनके कर्तृत्व का प्रभाव उजागर हो सकता है। इसके लिए आचार्य भिक्षु के जीवन और दर्शन से जन-जन को परिचित कराने की जरूरत है।

आस्था कब जागती है? विलक्षण व्यक्तित्व और उपयोगी दर्शन सामने हो तो व्यक्ति आस्था की डोर से बध जाता है। किसी व्यक्ति या दर्शन के वारे मे जानकारी ही नही होगी तो आस्था का अकुरण कैसे होगा? पूरे तेरापन्थ समाज का दायित्व है कि वह तेरापन्थ की सीमाओ से वाहर भी आचार्य भिक्षु की चेतना को जगाए। आचार्य भिक्षु की आगमसोची सूझबूझ, सामूहिक जीवन में शान्तसहवास के प्रयोग, अनुशासन, एकता और संविधान आदि ऐसे तत्त्व है, जिनमे युग की ज्वलन्त समस्याओ के समाधान निहित हैं।

जिन प्रवुद्ध लोगो ने आचार्य भिक्षु का साहित्य पढा है, जिन लोगो ने उनके वारे मे थोडा भी सुना है, वे उनकी प्रतिभा और व्यवस्थाकौशल से अभिभूत है। पूरे विश्व या देश मे आचार्य भिक्षु को स्थापित करने की वात महत्त्वपूर्ण तो है ही, पर इसके लिए वहुत काम करना पड़ेगा। इतना वड़ा काम देश, काल और

साधनो की सीमाओं मे नहीं हो सकता। यह हमारे लिए करणीय अवश्य है। पर इसकी पृष्ठभूमि मे केवल जैनसमाज में ही उनके अनुशासन, सगठन, एकता आदि के बीज बोए जा सके तो बडी उपलब्धि हो सकती है। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि आचार्य भिक्षु का धार्मिक अनुशासन सामाजिक और पारिवारिक परिवेश को भी प्रभावित करे। हमे अपनी ओर से प्रयास करना है। हमारा विश्वास दावा करने मे नहीं, काम करने में होना चाहिए।

प्रश्न : एक ओर तेरापन्थ के मच से सार्वभौम और सार्वजनीन कार्यक्रम किए जा रहे हैं, दूसरी ओर आप 'भिक्षु चेतना वर्ष' जैसे नितान्त संघीय आयोजन का चिन्तन कर रहे है। क्या इससे तेरापन्थ की व्यापकता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगेगा?

उत्तर : तेरापन्थ के आचार्यो का दृष्टिकोण व्यापक है। वे सार्वभौम और सार्वजनीन कार्यक्रमों के बारे में सोचते है। एक व्यक्ति से लेकर पूरी मानव-जाति उनके कार्यक्रमो से लाभान्वित हो, यह लक्ष्य उनके सामने है। इससे भी आगे वे प्राणी मात्र के हितो की सुरक्षा के लिए जागरूक है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे संघ या संप्रदाय से निरपेक्ष होकर ही सोचते है। आखिर जिस धरती पर उनके पाव टिके है, उसे मजबूत रखकर ही तो वे किसी के लिए कुछ कर सकेगे।

जिस मकान मे बैठकर विश्व के लिए हितकर या उपयोगी चिन्तन किया जाता है, उस मकान की सुरक्षा का दायित्व भी चिन्तन करने वालो पर ही है। मेरी दृष्टि में सघ हमारा परम उपकारी है। उसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज तक पहुचाने के बाद भी हम उसके मूल की उपेक्षा कभी नहीं कर सकते। इसी कारण ऐसे कार्यक्रमो की आयोजना मे विसगति जैसा कुछ भी अनुभव नहीं होता।

प्रश्न : आजकल आप 'कर्मणा जैन' बनाने की बात पर विशेष बल दे रहे हैं। ऐसा करके आप इस सम्प्रदायवहुल देश मे कोई नया

सम्प्रदाय तो नहीं बना रहे है?

उत्तर : हमारा लक्ष्य किसी नये सम्प्रदाय का निर्माण नही है। धर्म का सम्बन्ध आचरण के साथ हो और उसे विवेक से स्वीकार किया जाए, इस उद्देश्य से हमने यह अभियान चलाया है। इसमे जन्मना जैनों को भी कर्मणा जैन बनाने का प्रावधान है। जैन हो या अजैन, जब तक धर्म का कर्म या आचरण के साथ सम्बन्ध नहीं जुडेगा, उसका प्रभाव जीवन पर नही हो सकेगा। जो धर्म जीवन को प्रभावित न कर पाए, उससे क्या आशा की जा सकती है? हमारी दृष्टि किसी नये सम्प्रदाय को पैदा करने की नहीं, भगवान महावीर के दर्शन को व्यापक बनाने की है।

प्रश्न : आचार्य भिक्षु की अभिनिष्क्रमण-स्थली से आपने अभिक्रमण यात्रा प्रारंभ की। यह यात्रा मात्र तेरापथ के अभ्युदय मे ही निमित्त बनेगी अथवा इसका व्यापक प्रभाव होगा?

उत्तर : हमारी यात्रा तो चल ही रही है। आचार्य भिक्षु की अभिनिष्क्रमण-स्थली निमित्त बनी और उसके साथ अभिक्रमण की बात जुड गई। किसी नये काम का प्रारभ निमित्त-सापेक्ष होता है। निमित्त छोटा हो या बडा, लक्ष्य बडा हो तो उस काम की व्यापकता मे सन्देह नही हो सकता। देखना यह है कि हमारा अभिक्रम किस दिशा में है? अभिक्रमण के घोपणा-पत्र मे तीन बिन्दुओ का उल्लेख है—

- अहिसा का प्रशिक्षण
- कर्मणा जैन
- साम्प्रदायिक सद्भाव

इन तीनो बिन्दुओं मे कौन-सा बिन्दु ऐसा है, जो किसी सीमा में बंधा हुआ हो। संकीर्णता हमारे दृष्टिकोण और चिन्तन मे भी नहीं है, तब हमारा अभिक्रम सीमित कैसे होगा? आखे शरीर के एक छोटे-से हिस्से में होती है, फिर भी वे कितनी दूर तक देखती है। काम करने की हमारी सीमाए हो सकती है, पर कार्यक्षेत्र व्यापक है। हमारा यह अभिक्रम व्यापक उद्देश्य

के साथ शुरू हुआ है, इसलिए इसकी निष्पत्ति भी व्यापक सदर्भो मे देखी जाए।

प्रश्न : आपके शासन काल में तेरापंथ धर्मसंघ को मानवधर्म के रूप मे व्यापक क्षितिज मिला। क्या इसकी शक्ति भविष्य मे भी नैतिक मूल्यो के उत्थान एवं कल्याण के कार्यक्रमो मे खपती रहेगी?

उत्तर : निस्सदेह, अणुव्रत मिशन के साथ मेरा नाम जुडा हुआ है। इसे देशव्यापी बनाने मे तेरापथ समाज ने पूरी शक्ति और श्रम का नियोजन किया है। इन वर्षो मे अतर्राष्ट्रीय जगत् मे भी इसके स्वर मुखर हुए है। भविष्य में इस कार्य मे समाज की शक्ति नहीं लगने का कोई प्रश्न ही नहीं है। जिस समाज का प्रबुद्धवर्ग और युवावर्ग अपने दायित्व के प्रति सचेत रहता है, उसका कोई काम अधर मे नहीं झूल सकता। मुझे तो ऐसी प्रतीति होती है कि आने वाले वर्षो में मानवधर्म का क्षितिज और अधिक खुलेगा और उससे मानव जाति का उपकार होगा।

प्रश्न : जैन समाज की सर्वागीण हित-साधना की दृष्टि से क्या आपके पास कोई ठोस योजना है? यदि है तो उसे जैनसमाज का कितना समर्थन मिल रहा है?

उत्तर : मै जैनसमाज और मानवसमाज के हितो को बाटकर नही देखता। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि हमारे अनेक कार्यक्रम सम्पूर्ण मानवजाति के हितो को ध्यान मे रखकर चलाए जा रहे है। जैनसमाज उनसे अलग कहां है? एक समय था, जब सम्प्रदायभेद के कारण जैन लोगो मे आपसी दुराव था। इन वर्षो मे अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान के कारण काफी निकटता बढ़ी है।

जैनसमाज ने भगवान महावीर की पचीसवी निर्वाणसदी के अवसर पर एक ध्वज, एक प्रतीक और एक ग्रन्थ को मान्यता देकर जैन एकता की दिशा मे ठोस काम किया। अब सबसे बडा सवाल सवत्सरी को एक दिन मनाने का है। इस विषय मे अव तक किए गए प्रयत्न सफल नहीं हो पाए। फिर भी हम निराश नहीं है। इस दिशा मे मिली सफलता एक बडी उपलब्धि

हो सकेगी।

जैन लोगों के पास कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो पूरे विश्व के लिए हितावह हैं। सहअस्तित्व, समन्वय, समता, अनेकान्त जैसे सिद्धान्तो को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। पर अभी तक इनका उपयोग सही रूप मे नही हो पा रहा है। जैनसमाज का यह भी दायित्व होगा कि वह जैनधर्म के इन सार्वभौम तत्त्वो से विश्वमानव को परिचित कराए और कम-से-कम इन्हें जैन लोगो की जीवनशैली का अग बनाने का प्रयत्न करे।

प्रश्न : आप सादगी का उपदेश देते है, पर आपके सगठन की पत्रिकाए चमक-दमक में आगे है, महगी है। उनका प्रचार भी सीमित है। तव विचार-प्रसारण का क्या होगा?

उत्तर : हम सादगी को जितना महत्त्व देते है, कला को भी उतना महत्त्व देते है। फूहडपन घर का हो, कपडो का हो, साहित्य का हो या पत्र-पत्रिकाओ का, व्यक्ति और संगठन की गरिमा को कम करता है। कलात्मकता और चमक-दमक मे जो अन्तर है, उसे समझना जरूरी है। चमक-दमक का संबंध कोरे प्रदर्शन से है। जवकि कला के प्रदर्शन मे दर्शन रहता है। सहज सुरुचिपूर्णता और प्रथम दर्शन मे ही पाठक को आकृष्ट करना—किसी भी पत्रिका के सम्पादक के कौशल की अभिव्यक्ति है।

महगी या सस्ती वस्तु होती है, उसका सवंध मनुष्य की मानसिकता के साथ अधिक है। वह शरीर के लिए आवश्यकता की चीजे, फिर चाहे वे वस्त्र हों, जूते हो या और कुछ हो, उनके वारे मे कभी प्रश्न नहीं उठाता। साहित्य और पत्र-पत्रिकाओ के पसंग मे यह प्रश्न वार-वार उठता है। क्या आपने कभी यह सोचा है कि सव कुछ महंगा है तव ये सस्ते कहा से होगे? साहित्य और पत्रिकाए विचार-प्रसारण का माध्यम है। इनका प्रचार सीमित है, यह वात सही है। जैसे-जैसे लोगो को अवगति मिल रही है, वे इधर ध्यान दे रहे हैं। गत वर्प 'राजस्थान-पत्रिका' ने इस काम मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे लाखो लोग

हमारे विचारो से परिचित हुए है। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहा तो विचार-प्रसारण की समस्या स्वतः सुलझ जाएगी।

प्रश्न : क्या आप तेरापथ धर्म-सघ के सिद्धातो मे युग के अनुरूप कोई आमूलचूल परिवर्तन करेगे?

उत्तर : हमे अपने मौलिक सिद्धातो मे परिवर्तन की कोई अपेक्षा महसूस नहीं होती। व्यवस्था तथा परम्परा के नियमों मे समयानुकूल परिवर्तन हमेशा होते आए है, हमने भी किया है। आगे भी रास्ता खुला है। हम लकीर के फकीर होने में विश्वास नहीं करते। किसी भी परम्परा की सार्थकता उसकी मूल भावना को समझने में है न कि उसे घसीटने मे। सदर्भहीन परम्परा तथा व्यवस्था मे परिवर्तन करने का अधिकार आचार्य को होता है। मैने उस अधिकार का उपयोग किया है तथा आगे भी करने मे कोई कठिनाई नहीं देखता हू।

प्रश्न : अनेक व्याधियो से ग्रसित वर्तमान समाज और देश के कल्याण के लिए आप अपने मिशन का प्रचार किस प्रकार करेगे?

उत्तर : जिस समय बीमार अधिक होते है, डॉक्टरो को अधिक काम करने का मौका मिलता है। नई-नई बीमारियो को प्रतिहत करने के लिए वे नई-नई औषधिया खोजते हैं और अपने रोगियो को स्वस्थ बनाने का प्रयत्न करते है। जिस समय समाज और देश मानसिक एव आध्यात्मिक व्याधियो से आक्रान्त होता है, साधु-सन्तो पर यह गुरुतर दायित्व आता है कि वे अपने मिशन का प्रसार व्यापक स्तर पर करे ताकि सत्रास और घुटनभरे जन-मानस मे आनन्द की रश्मिया प्रवेश पा सके। समय जितना विषम होता है, धर्म का विस्तार उतना ही अधिक अपेक्षित हो जाता है।

हम जिस तत्त्व को जन-जन तक पहुचाना चाहते है, वह रूढ और उपासनामूलक तत्त्व नहीं है। अहिसा, संयम और तप की त्रिपदी सबसे बडा तत्त्व है। इसी तत्त्व को हम धर्म कहते है। धर्म वह होता है जो जीवन के कण-कण को आलोकित

कर दे, जीवन के व्यवहारो को बदल दे और जीवन-व्यापी व्याधियों को निरस्त कर दे। इसलिए मैं चाहता हूं कि देश मे बढती हुई व्याधियो के अनुपात मे हम नई-नई पद्धतियों की खोज करे और उनके प्रचार-प्रसार मे अधिक रस लें। हमारा काम करने का तरीका बल-प्रयोग नहीं, हृदय-परिवर्तन होगा। हम अपने विचारों को समझाने का प्रयत्न करेंगे। मुझे विश्वास है कि जो समाज उन्हे औषध के रूप में स्वीकार करेगा, वह व्याधिमुक्त होकर स्वस्थ जीवन की दिशा को प्रशस्त कर सकेगा।

प्रशन : साधु संस्था के रहते आपको एक और नई श्रेणी 'समण श्रेणी' स्थापित करने की आवश्यकता क्यो महसूस हुई? क्या आप इस नई श्रेणी के बारे मे कुछ वताएंगे?

उत्तर : समण श्रेणी साधु और श्रावक के बीच की एक कडी है। अपनी विशिष्ट आचार-विधि के कारण साधु-साध्वियां एक सीमा तक ही कार्य कर सकती हैं। श्रावक लोग भी परिवार से वधे होने के कारण मुक्त होकर कार्य नहीं कर सकते। युगीन परिस्थितियों मे साधुचर्या को लेकर उपस्थित कठिनाइयो और भगवान महावीर के दर्शन को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो तक पहुचाने की आवश्यकता को ध्यान मे रखकर इस नई श्रेणी की स्थापना की गई। इस श्रेणी मे साधना करने वाले साधक गृहस्थ नही होते। उनका आचार-व्यवहार साधु के समकक्ष होता है। उसमें खानपान, यातायात आदि की दृष्टि से कुछ छूट दी गई है। इस श्रेणी पर भी आध्यात्मिक अनुशासन हमारे संघ का है। इसमें दीक्षित समण-समणिया आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यो के प्रचार-प्रसार मे अच्छा योग दे रही हैं। भारत से वाहर अनेक देशो मे इनकी सफल यात्राए हुई है। विदेशी लोगों मे भारतीय संस्कृति के सार्वभौम तत्त्वो के प्रति आकर्पण पैदा करने और वहां रह रहे भारतीय मूल के लोगो मे अपनी मौलिकता के प्रति दिलचस्पी जगाने में इन्हे अच्छी सफलता मिल रही है।

प्रश्न : आज देश की जैसी स्यिति है, मूल्य एवं आदर्श टूट रहे हैं,

राजनीति दूषित हो रही है, पाश्चात्य मूल्यो का प्रसार सस्कृति को नुकसान पहुचा रहा है, आर्थिक विसंगतिया पनप रही है, ऐसे समय मे आप देश को क्या सदेश देना चाहेगे? क्या उजालो का सिमटना जारी रहेगा?

उत्तर : अंधेरे के बाद उजाला और उजाले के बाद अधेरा, यह प्रकृति का नियम है। कभी-कभी उजाले में अधेरा हो जाता है। सघन कुहासा और मेघघटाएं उजाले को लील लेती है। अधेरे मे उजाले की बात भी अज्ञात नहीं है। विद्युत् बल्बो और डेलाइटो का चमत्कार सबके सामने है। इस दृष्टि से विचार करे तो देश की क्या, विश्व की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। आज मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा कम हुई है। आदर्श खूटी पर टग गए हैं। राजनीति क्या, नीति मात्र दूषित हो गई है। न प्रशासन के पास शुद्ध नीति है, न व्यवसायियों के पास शुद्ध नीति है। और तो क्या, धार्मिको की नीति पर भी प्रश्नचिह्न लग चुके हैं। देश की सस्कृति अपाहिज बनती जा रही है। इसका सबसे बडा कारण है शिक्षा नीति की अस्थिरता। पाश्चात्य पैटर्न पर दी जाने वाली शिक्षा देश की जरूरतो को अनदेखा कर रही है। शिक्षा का उद्देश्य जीवन-स्तर कों उन्नत बनाना नहीं, आर्थिक स्टैडर्ड को ऊचा करना है। मनुष्य के सामने मुख्य लक्ष्य दो ही रह गए है—अर्थ और सत्ता। इनकी प्राप्ति के लिए हर उपाय को वैध माना जा रहा है। इस परिस्थिति मे कही कोई त्राण नजर नहीं आ रहा है।

हम जानते है कि इस दुनिया मे जबर्दस्त उथल-पुथल मचेगी। प्रलय की स्थिति आएगी। किन्तु वह समय बहुत दूर है। फिर भी आज मनुष्य ने जैसी स्थितिया पैदा की है, उसके आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि वह समय नजदीक आ रहा है। वह समय इतना भयावह होगा, जिसकी कल्पना से ही रोमाच हो जाता है। ऐसी स्थिति मे हमारा सदेश यही है कि यदि मनुष्य सुख-शाति से जीना चाहता है तो अपनी

जीवनशैली बदले। अणुव्रत पर आधारित जीवनशैली उसे सकट से उबार सकती है। अणुव्रत की शैली मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की शैली है। आज की सबसे बड़ी अपेक्षा भी यही है। 'सयुंक्त राष्ट्र संघ' द्वारा अतर्राष्ट्रीय वर्ष के रूप मे 'सहिष्णुता वर्ष' की घोषणा मानवीय मूल्यो को तरजीह देने की घोषणा है।

हमारे अणुव्रत मिशन को व्यापक और प्रभावी बनाने मे पाक्षिक पत्र 'अणुव्रत' की भी अच्छी भूमिका रही है। इसके माध्यम से जन-जन तक मानवीय मूल्यो की चर्चा पहुच रही है। आज सही बात कहने और उसे जन-जन तक पहुंचाने की दृष्टि से भी अकाल-सा दिखाई दे रहा है। मीडिया अपने दायित्व से सही अर्थो मे प्रतिबद्ध नहीं है। यदि उसके साथ यह प्रतिवद्धता हो जाए तो हमारा काम काफी आसान हो सकता है। अन्य समाचार-पत्र और दूरदर्शन अपने पाठको एव दर्शको को क्या परोसता है, इस विवाद में उलझे बिना अणुव्रत अपनी छोटी सीमाओ मे भी बडा काम कर रहा है। विश्व के किसी भी हिस्से मे मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा का कोई भी काम होता हो, उसका प्रकाश जन-जन तक पहुंचता रहे तो सिमटते हुए उजालो को विस्तार दिया जा सकता है।

प्रश्न : अभी कुछ दिनों पूर्व एक जैन मुनि का वक्तव्य आया कि धर्माचार्य राजनीति से ऊपर उठे। यह उन्होंने आपके ऊपर सीधा व्यंग्य किया है। इस पर आपके क्या विचार है?

उत्तर : मैं नहीं समझता कि यह मेरे पर व्यंग्य है। क्योंकि मै स्वय भी यह मानता हू कि धर्म को राजनीति से ऊपर रहना चाहिए। ऐसी स्थिति मे मैं कहूंगा कि यह एक हकीकत है। मैं अपने आपको राजनीति से लिप्त नहीं मानता। पर लिप्त नहीं होने का अर्थ यह नहीं है कि किसी राजनीतिक व्यक्ति से सम्वन्ध भी नहीं रखना। यदि हम सम्पर्क नहीं रखेंगे तो अपने अच्छे विचार उन्हे कैसे वता सकेगे? आवश्यकता इस वात की है कि

धर्म-गुरु स्वय राजनीति मे न फंसे। अणुव्रत आदोलन के सिलसिले में देश के सभी शीर्षस्थ राजनेताओ से हमारा सम्पर्क रहा है, पर हम किसी भी दल विशेष का अपने पर दबाव महसूस नही करते। हमने विपक्ष के लिए जितनी कडी बाते कही है उतनी सत्तापक्ष के लिए भी कही है। अत हम नही समझते है कि हमारे पर राजनीति हावी है। अलबत्ता हमे राजनीति से एलर्जी नहीं है।

प्रश्न : क्या सक्रिय राजनीति मे आपकी रुचि है? वर्तमान भारतीय राजनीति पर आपके क्या विचार है? सामाजिक क्रान्ति का आपका सिद्धान्त राज्य की सत्ता से कैसे समन्वित हो सकता है?

उत्तर : हम लोग जैन साधु है। साधना हमारा मुख्य उद्देश्य है। जैन साधुचर्या से सबधित रहकर हम राजनीति का ज्ञान तो कर सकते है पर उसमे सक्रिय कैसे हो सकते है? होना चाहिए भी नहीं। क्योकि साधुता का सबध आत्मनीति से है, राजनीति से नहीं।

वर्तमान भारतीय राजनीति लोकतात्रिक है। लोकतत्र एक स्वस्थ शासनपद्धति के रूप मे स्वीकृत है। क्योकि इसमे सह-अस्तित्व, अहिसा, अनाक्रमण, वैचारिक स्वतन्त्रता जैसी मानवीय नीतियो का समावेश है। ये नीतिया जैन सिद्धात सम्मत है और राष्ट्र की जनता को भय एव आतक से मुक्त रखकर विकास करने मे सहयोग देती है। इस दृष्टि से भी ये अच्छी है। किन्तु यह सव है सैद्धान्तिक स्तर पर। जनता या शासको के आचरण मे ये सब बातें कहा तक आ पायी है, यह पहलू विचारणीय है।

सामाजिक क्रान्ति और राज्यसत्ता की समन्विति के सदर्भ मे मेरे सामने कोई उलझन नहीं है। मेरी मान्यता है कि क्रान्ति के लिए हृदय-परिवर्तन और व्यवस्था-परिवर्तन दोनो का योग होना जरूरी है। सामाजिक क्रान्ति केवल धर्म से नहीं हो सकती और केवल कानून से भी नहीं हो सकती। धर्म का अपना काम और अपनी सीमाएं हैं। उसी प्रकार कानून का अपना काम और अपनी

१. अहिंसा—मुंहपत्ती रखने से वायुकाय के जीवो की हिसा से वचाव होता है।

२. शिष्टाचार—बोलचाल मे मुह से निकले थूक आदि दूसरो पर गिरने की सभावना नही रहती है।

३. वाणी संयम—मुंह पर बधी पट्टी साधक को अनावश्यक न वोलने का प्रतिक्षण बोधपाठ देती रहती है।

प्रश्न : लोगो का कहना है कि आप धनवानों से ज्यादा वाते करते हैं। वडे-बडे शहरो मे चातुर्मास करते है। आपके चातुर्मास पर लाखों रुपये खर्च होते है?

उत्तर : मैं न गरीवी में धर्म मानता हू, न अमीरी मे। मैं तो गुणवत्ता को मानता हूं। जिस किसी व्यक्ति में मुझे अच्छाई दिखाई देती है, मैं उसका आदर करता हूं।

मेरे अधिकांश चातुर्मास कस्बो में होते हैं। बडे शहरो म भी कई वार मुझे चातुर्मास करने पडते है, पर अपनी रुचि से मैं गांवो मे ही रहना पसन्द करता हूं। हमारा साधु-समुदाय स्वावलम्वी है। उसके लिए किसी प्रकार के अर्थ की जरूरत नहीं पडती। प्रचार-प्रसार तथा आने वाले दर्शनार्थी व्यक्तियो के लिए व्यवस्था समाज करता है। इसे मेरे साथ नहीं जोडा जाना चाहिए। आगे यह भी समझना चाहिए कि इस प्रकार के काम करने वाले संस्थानो की तुलना मे हमारा धर्म-सघ वहुत मितव्ययी है।

प्रश्न : मर्यादा-महोत्सव में आपने फरमाया था—'मै महाप्रज्ञ से कहना चाहूगा कि अव संघ मे एक महाप्रज्ञ से काम नही चलेगा। तो क्या आप नये महाप्रज्ञ घोषित करने का संकेत दे रहे थे? अथवा सरकार मे अतिरिक्त निदेशको की तरह नए पद स्थापित करने की तरफ आपका इशारा था? अथवा इस सन्दर्भ मे आप कुछ अन्य विचार रखते है?

उत्तर : मेरा उद्देश्य किसी नये पद की व्यवस्था से नहीं था। अनेक पदों की ऐसी कोई अपेक्षा भी नहीं है। मेरा अभिप्राय गुणात्मकता से था, व्यक्तित्व-निर्माण से था। सघ के कार्य-क्षेत्र के विस्तार

को देखते हुए ऐसे अनेक व्यक्तियो के निर्माण की अपेक्षा है, जिनकी प्रज्ञा जागृत हो।

प्रश्न : युवक समाज से आपकी क्या अपेक्षाए है? उनकी सम्पूर्ति के लिए क्या योजना एव प्रयास है?

उत्तर : युवापीढी से मेरी बहुत अपेक्षाए है। प्राथमिकता के रूप मे तीन बातो पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है—

१. युवापीढी का आचार-व्यवहार, खान-पान और रहन-सहन सादा तथा सात्विक हो।

२. युवापीढी विघटनमूलक प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर अपने सगठन पक्ष को सुदृढ बनाए।

३. युवापीढ़ी अपने समाज की उन जीर्ण-शीर्ण, अर्थहीन और समाज के लिए भारभूत रूढ परम्पराओ को, जिनका सबध युवको से है, समाप्त करने लिए कटिबद्ध हो।

इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए व्यापक स्तर पर तेरापंथ युवक परिषदों का गठन हो रहा है। युवको को उचित प्रशिक्षण देने के लिए समय-समय पर युवक शिविरो का समायोजन किया जा रहा है। पहली अपेक्षा को पूरा करने के लिए युवको को प्रयोगात्मक गतिविधियो का बोध दिया जा रहा है तथा उनके सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण करने के लिए तदनुरूप साहित्य के माध्यम से काम करने का चिन्तन है। मैं मानता हू कि जब तक युवको का अपना निर्माण नहीं होता है, वे युग-चेतना को नई स्फुरणा नही दे सकते।

प्रश्न : विचार क्रान्ति को आगे बढाने मे बच्चो और महिलाओ की अपनी भूमिका है। आपके सघ मे इन दोनो वर्गो के लिए न तो कोई ठोस योजनाएं है और न साहित्य ही है। इस विषय मे आपका क्या चिन्तन है?

उत्तर : बच्चो और महिलाओ को दिशा-बोध देने के लिए साहित्य की अच्छी भूमिका है, इसमे कोई दो मत नहीं हो सकता। यह भी सही है कि हमारे यहा से जो साहित्य लिखा गया है, बच्चो

के लिए उपयोगी साहित्य कम है। पिछले कुछ समय से हमने इस ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। बच्चो के लिए कुछ कॉमिक्स लिखे गये है, लिखे जा रहे है। पर जितना काम हुआ है, वह पर्याप्त नहीं है। इसे आगे बढाने की अपेक्षा है।

महिलाओं के सबंध मे चिन्तन किया जाये तो उनको लक्ष्य मे रखकर साहित्य का निर्माण भले ही न हुआ हो, पर उनके लिए उपयोगी साहित्य प्रचुर मात्रा मे है। हमने इस दृष्टि से अपनी साध्वियो को निर्देश दे रखा है। अनेक साध्विया और स्वय साध्वीप्रमुखा महिलाओं की चेतना को जगाने एवं झकझोरने के लिए प्रयत्नशील है। वैसे राजस्थानी महिलाओ की स्थिति और मानसिकता मे जो बदलाव आया है, वह कम आश्चर्यजनक नहीं है। समाज की पत्र-पत्रिकाओ मे भी महिलाओ और बच्चो के लिए कुछ स्तम्भ है, जिनके अन्तर्गत उनके लिए उपयोगी रचनाओं का प्रकाशन होता है।

महिला समाज का अपना अखिल भारतीय सगठन है। उसकी धार्मिक, सामाजिक, सास्कृतिक और सेवामूलक प्रवृत्तिया व्यवस्थित रूप से चल रही है। महिलाओ का आत्मविश्वास जागा है और कर्तृत्व क्षमता बढी है। महिला मण्डल का एक मासिक बुलेटिन 'नारी लोक' निकलता है। उसके माध्यम से महिलाओ को समसामयिक प्रेरणा मिलती रहती है। फिर भी इस दिशा मे सुनियोजित रूप से साहित्य-निर्माण पर ध्यान देना जरूरी है।

प्रश्न : क्या आप दान के रूप मे रुपया-पैसा भी लेते है?

उत्तर : नहीं, हमे रुपये-पैसे की आवश्यकता नहीं होती। जीवनयापन के लिए भोजन आदि हम भिक्षा से प्राप्त करते है। हम न भोजन पकाते है और न दूसरो से पकवाते है। जो भोजन विशेष रूप से हमारे लिए बनाया जाए, उसे हम ग्रहण नहीं करते। गृहस्थ के घर मे सहज रूप से जो भोजन बनता है, उसमे से दाता की भावना देखकर थोडा-थोड़ा भोजन लेते है। देने वाला जितना देना चाहता है, उससे कम लेते है। हमारी भिक्षा केवल जैन

परिवारो मे ही हो, ऐसी प्रतिबद्धता भी नहीं है। जिन घरो मे मांस-मदिरा आदि का खुला व्यवहार न हो, वहां साधु भिक्षा कर सकते है।

प्रश्न : अस्पृश्यता-निवारण के लिए आपकी बात सिद्धान्तत. तो ठीक है। किन्तु व्यवहार में उसका प्रयोग नहीं होने से क्या वह पूरी तरह फलीभूत हो सकेगी? व्यवहार के क्षेत्र मे हम देखते है कि जैन साधु हरिजनो की सामुदायिक भिक्षा ग्रहण नहीं करते। ऐसी स्थिति मे अस्पृश्यता-निवारण के लिए क्या आपका प्रयत्न परिपूर्ण कहा जा सकता है?

उत्तर : जैन-दर्शन प्रारम्भ से ही जातिवाद को अतात्त्विक मानता रहा है। जातिवाद की अतात्त्विकता का निरूपण करने के साथ उसे प्रायोगिक रूप देने का प्रयत्न भी हुआ है। विरासत मे प्राप्त इन सस्कारो तथा युगीन चिन्तन के औचित्य को स्वीकार करने के कारण जातिवाद मे मेरा कतई विश्वास नहीं है। हमारे यहां जाति विशेष को लेकर किसी की भिक्षा बन्द नहीं है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार जो उचित होता है, उसे सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियो से स्वीकार करने मे कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। जैनदर्शन मे आस्थावान् व्यक्ति समता धर्म मे विश्वास करते है। मध्यकाल मे भिन्न सस्कृतियो का प्रभाव होने से समत्व की बात कुछ विस्मृत-सी होने लगी थी। अब पुन. इस ओर सबका ध्यान आकृष्ट हो रहा है। अस्पृश्यता मानवता का कलक है। भारतीय सविधान से भी यह मान्यता-प्राप्त नहीं है। अस्पृश्यता-निवारण के लिए तथाकथित अस्पृश्य लोगो को सस्कारी बनाना होगा। सस्कार-निर्माण के अभाव मे अस्पृश्यता-निवारण का नारा मात्र नारा बनकर रह जाएगा। उन्हे सस्कारी वनाने का अर्थ है व्यसनमुक्त जीवन की प्रेरणा देना, सामाजिक कुरूढियों का बहिष्कार करना तथा जीवन-व्यवहार को उन्नत बनाना । इस सम्बन्ध में पूर्व गृहीत धारणाओ को लेकर भिक्षा के सम्बन्ध मे कोई उलझन नहीं होनी चाहिए। मेरी दृष्टि

से संस्कारी लोगो की भिक्षा और दीक्षा दोनो ही प्रतिबन्धित नहीं हो सकतीं।

प्रश्न . तेरापथ क्या है? इसका अर्थ क्या है? और इस नाम का इतिहास क्या है?

उत्तर तेरापंथ जैनशासन का एक नवोदित सम्प्रदाय है। जैन सम्प्रदायो मे यह अधुनातन है। इसकी स्थापना वि. स. १८१७, आषाढ शुक्ला पूर्णिमा को हुई। इसके प्रवर्तक थे आचार्य भिक्षु (स्वामी भीखणजी)। तेरापथ नाम उनकी उपज नहीं है। किसी सम्प्रदाय को बनाना और चलाना उनका लक्ष्य था ही नहीं। उन्होने तो तपस्या और साधना द्वारा आत्मकल्याण करने की बात सोची थी। फिर भी नियति का योग था। तेरापथ को होना था और वह हो गया। बात यो बनी—जोधपुर के बाजार की दुकानो मे कुछ श्रावक सामायिक कर रहे थे। वहा के तत्कालीन दीवान फतेहमलजी सिघी ने उनको वहा सामायिक करने का कारण पूछा। उन्होने आचार्य भिक्षु द्वारा की गई धर्मक्रान्ति की सूचना दी। दीवानजी ने विस्तार से जानकारी प्राप्त की। उस बीच उन्होने पूछ लिया—भीखणजी के साथ साधु और श्रावक कितने है? श्रावको ने साधुओ की सख्या बताई तेरह। संयोग से उस समय वहा श्रावक भी तेरह थे। राजस्थानी मे तेरह को 'तेरा' कहा जाता है। तेरा-तेरा की सख्या का सुन्दर योग देख एक भोजक कवि ने कह दिया—'अै तेरापथी तंत'।

बात फैलती-फैलती स्वामी भीखणजी तक पहुची। एक बार तो वे चौंके। उन्होने कहा—१३, २० और २२ से क्या लेना-देना है? हमे तो अपनी साधना करनी है।' पर कुछ क्षणो बाद ही उनका चिन्तन बदल गया। दिमाग उनका उर्वर था ही। उन्होने सोचा—हमारी धर्मक्रान्ति का नामकरण हो गया और वह लोगो की जुवान पर भी आ गया। अब इसे स्वीकार करने मे ही लाभ है।

नाम की स्वीकृति के साथ ही स्वामीजी ने उसकी स्वोपज्ञ

व्याख्या की—'हे प्रभो। यह तेरा पंथ'। यह तेरा शब्द संख्या वाचक नहीं, सम्बन्ध वाचक है। यही है इसके नामकरण का इतिहास। मेरे अभिमत से यह जैनशासन का अपने ढंग का एक ही पथ है।

प्रश्न : तेरापन्थ के प्रवर्तक भीखणजी स्वामी कौन थे? आप उनके बारे मे कुछ बताएगे।

उत्तर : स्वामी भीखणजी ने तेरापन्थ का प्रवर्तन किया नहीं, वे उसके प्रवर्तक हो गए। वे मारवाड मे पाली जिले के कंटालिया गाव मे जनमे। २५ वर्ष की अवस्था मे साधु बने। लगभग ३४ वर्ष की अवस्था मे उन्होने धर्मक्रान्ति की। उसके बाद उन पर एक सघ के सचालन का दायित्व आ गया। प्रत्युत्पन्न बुद्धि और अनुभव सपदा के आधार पर उन्होने सघ की समग्र गतिविधियो को नियन्त्रित किया। संघ के लिए सविधान का निर्माण किया। उस समय न तो कोई उनका सहयोगी था और न कोई परामर्शक था। पूरा काम उन्होने एक दिमाग से किया। उनका बुद्धिकौशल बडे-बडे राज्याधिकारियो के लिए भी आश्चर्य का विषय था।

स्वामीजी का चातुर्मास्य सिरियारी था। जोधपुर नरेश विजयसिहजी नाथद्वारा जा रहे थे। रास्ते मे वर्षा हो जाने से वे सिरियारी मे ठहरे। उनके कुछ उच्च अधिकारी स्वामीजी के दर्शन करने गए। उन्होने उनसे कुछ प्रश्न पूछे। स्वामीजी के यौक्तिक उत्तर सुनकर वे बोले—'हमने ये प्रश्न अनेक स्थानो पर पूछे, पर हमे सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिले। आपकी बुद्धि तो ऐसी है कि आप किसी राजा के मन्त्री होते तो अनेक देशो के राज्य उस राजा के अधीन कर देते।'

अधिकारियो की बात सुन स्वामीजी ने कहा—'वह राजा मृत्यु के बाद कहा जाता है?' अधिकारी बोले—'जाता तो नरक मे है।' स्वामीजी ने कहा—'वही बुद्धि अच्छी होती है, जो जिन धर्म का सेवन करती है। उस बुद्धि का क्या उपयोग जिससे मनुष्य कर्म का बध करता है? वह बुद्धि किस काम की? स्वामीजी के यौक्तिक उत्तर का अधिकारियो पर गहरा प्रभाव पडा।

स्वामी भीखणजी तेरापन्थ के एक मात्र सूत्रधार थे। सघ में आज जितना विकास हुआ है और हो रहा है, वह उन्हीं की देन है। वे अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति थे। इसलिए उन्होंने संघ के सगठन को ऐसा स्वरूप दिया कि वह तेजस्वी बनता जा रहा है। वि. स. १८१७ से १८६० तक उनका कार्यकाल है। उनकी जीवनयात्रा सिरियारी मे सम्पन्न हुई। 'सिरियारी के सन्त' रूप मे उनकी अच्छी प्रसिद्धि है।

प्रश्न : आप तेरापन्थ को क्रांतिकारी किस दृष्टि से कहते है?

उत्तर : हम क्या कहते हैं, प्रबुद्ध लोगो ने इसको क्रातिकारी कहा है। उनका कथन सही भी है। तेरापन्थ के माध्यम से स्वामी भीखणजी ने तत्कालीन जैन सम्प्रदायो की परम्परा मे परिवर्तन का असाधारण उदाहरण प्रस्तुत कर दिया। उनके द्वारा किए गए परिवर्तन ऐसे थे, जिनकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। उनकी क्रान्ति का अर्थ उथलपुथल मचाना नहीं था। उन्होने एक सुचिन्तित प्रक्रिया के द्वारा धर्मसंघों की परम्परा मे आमूलचूल बदलाव करके दिखा दिया।

एक आचार्य का नेतृत्व किसी भी धर्म-सम्प्रदाय मे नहीं था। स्वामी भीखणजी ने कहा—'तेरापन्थ में एक आचार्य का अनुशासन रहेगा। विहार-चातुर्मास्य आदि प्रमुख प्रवृत्तियो का सचालन आचार्य के निर्देश से होगा। किसी भी साधु-साध्वी को अपना शिष्य बनाने का अधिकार नहीं रहेगा।' एक आचार, एक विचार और एक आचार्य—इस त्रिवेणी को सघ में प्रवाहित कर उन्होने सबको चमत्कृत कर दिया। वे वर्षो तक विरोधी विचारो से जूझते रहे, पर कभी अपने पथ से विचलित नहीं हुए। उन्होने जो साहित्य लिखा, वह क्रान्ति का अमिट हस्ताक्षर बन गया।

तेरापन्थ के क्रान्तिकारी स्वरूप को समझने के लिए स्वामीजी के बारे में लिखे गए साहित्य को पढ़ना होगा। 'भिक्खु दृष्टान्त', 'भिक्षु जसरसायन' आदि ग्रन्थो को पढने से स्वामीजी की क्रान्ति के सूत्र हाथ लग सकते है। 'तेरापन्थ प्रवोध' एक छोटा-सा ग्रन्थ

है। उसमे भी स्वामीजी के जीवन और दर्शन की झलक देखी जा सकती है। स्वामीजी ने जैनदर्शन की गहराई मे उतरकर सिद्धान्तो का निरूपण किया था। 'जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ'—यह बात उन पर पूरी तरह लागू होती है। उन्होने अध्यात्मधर्म और लोकधर्म का पृथक्करण करके जिनशासन का बहुत उपकार किया। सिद्धान्त और सगठन—इन दोनो दृष्टियो से स्वामीजी ने जो अवधारणाएं दीं, उनसे तेरापन्थ अपने आप क्रान्तिकारी प्रमाणित हो गया।

प्रश्न : सामन्ती युग के पदचिह्नों पर चलता हुआ भी तेरापन्थ किन विलक्षण विशेषताओ के कारण इस जनतात्रिक युग मे अपने वर्चस्व को बनाए हुए है?

उत्तर : पहली बात तो यह है कि जो प्रश्न पूछा गया है, वह ठीक नहीं है। तेरापन्थ न तो कभी सामन्ती युग मे चला और न यह सामन्तशाही का पक्षधर है। तेरापन्थ मे जनतन्त्र नहीं है तो एकान्तत· एकतन्त्र भी नही है। तेरापन्थ की प्रशासनिक व्यवस्था के लिए 'अध्यात्म तन्त्र' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त लगता है।

तेरापन्थ धर्मसघ मे दीक्षित होने वाले व्यक्ति संघ के आचार्य और संविधान के प्रति हार्दिक भाव से समर्पित होते हैं। आचार्य उनको साधना और व्यवस्था के लिए पथदर्शन देते है। सघ के प्रत्येक सदस्य को चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है। सघीय मर्यादाओ और अनुशासन की सीमा मे रहकर कोई भी व्यक्ति सही चिन्तन देता है, उसे मान्य किया जाता है। कोई भी नई बात लागू होती है तो किसी को यह अनुभव नहीं होता कि वह उन पर थोपी जा रही है।

तेरापन्थ के भाग्यविधाता आचार्य भिक्षु ने सघ को यह बोधपाठ दिया। इसका उदाहरण है उनके द्वारा लिखित वि. सं. १८३२ का लिखत। आचार्य भिक्षु ने लिखत लिखा, सबको सुनाया, एक-एक साधु की स्वीकृति ली, उनसे हस्ताक्षर करवाए और

उसके बाद संघ में उसको लागू किया।

प्रश्न : आचार्य भिक्षु ने मर्यादा की रेखाएं खींची, उस समय परिस्थितियां भिन्न थीं। वर्तमान की बदली हुई परिस्थितियों मे उनको उतना ही अधिमान देना, क्या तेरापन्थ की प्रगति मे अवरोध नहीं है?

उत्तर : विचार दो प्रकार के होते हैं—शाश्वत और सामयिक। शाश्वत विचार देश, काल और परिस्थिति से अबाधित होते है। सामयिक विचार देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते है। आचार्य भिक्षु की चिन्तनशैली अनेकान्त-प्रधान थी। उनकी विचारधारा मे निश्चय और व्यवहार का समन्वय था। मर्यादाओ के निर्माण में उन्होंने अनेकान्त दृष्टि को आधार बनाया। इसी कारण उनके द्वारा खींची गई कोई भी रेखा मिटाने की अपेक्षा नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने निश्चयनय अथवा शाश्वत विचार के आधार पर जो सविधान बनाया, तेरापन्थ धर्मसंघ की मूलभूत बुनियाद वह है। संघ की शृखला उसी के कारण जुडी हुई है। उसमे सबको आनन्द और निश्चिन्तता का अनुभव होता है। उसको अधिमान देना शाश्वत सत्य को अधिमान देना है। शाश्वत सत्य कभी किसी प्रगति मे अवरोधक नहीं बनता। व्यवहारनय या सामयिक अपेक्षाओ के आधार पर जो मर्यादाएं बनाई गई, उनमे परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन की बात स्वय आचार्य भिक्षु ने स्वीकृत की है। वर्तमान आचार्य और बहुश्रुत साधु तटस्थ भाव से चिन्तन कर जो निर्णय देते है, वह सामयिक सत्य के रूप मे धर्मसघ में मान्य हो जाता है।

प्रश्न : तेरापथ के आद्यप्रणेता आचार्यश्री भिक्षु अपने गुरु रुघनाथजी से अलग हुए थे। उसका कारण था साधुओ के लिए स्थानको का निर्माण। लेकिन आज जगह-जगह पर भव्य तेरापथ सभा-भवन वन रहे है और साधु-साध्वियां वहां ठहरती भी है, ऐसा क्यों?

उत्तर : आचार्य भिक्षु केवल स्थानको के लिए ही अपने गुरु से अलग नहीं हुए थे। मुख्य रूप से उसका कारण कुछ मौलिक विचार-भेद

था। स्थानक भी एक मुद्दा था। उस समय स्थानक साधुओ के निमित्त बनने लगे थे। साधु लोग स्थानको के निर्माण और व्यवस्था मे सक्रिय भाग लेने लगे थे। उन पर साधुओ का अधिकार रहता था। अमुक महाराज का स्थानक—इस रूप मे ही उनकी पहचान होती थी। एक तरह से वे साधुओं की सम्पत्ति बन जाते थे। आचार्य भिक्षु ने उसी का विरोध किया था, वह विरोध आज भी कायम है। धर्मोपासना एव सामाजिक क्रियाकलापो के लिए भवन-निर्माण मे किसी को क्या बाधा हो सकती है? आज तेरापथ समाज मे जो सभाभवन बनते है, वे स्थानक के प्रतिरूप नहीं है। श्रावक लोग अपनी धार्मिक और सामाजिक आवश्यकताओ के लिए उनका निर्माण करवाते हैं। इस आवश्यकता को हम रोक भी नही सकते है। उन पर साधुओ का कोई हस्तक्षेप और अधिकार नहीं होता। समाज के लोग अपनी आवश्यकता से किसी मकान आदि का निर्माण करते हैं, उसे रोकना हम आवश्यक नहीं समझते तथा उनका उपयोग करने मे कोई दोष भी नही समझते।

प्रश्न : तेरापथी समुदाय के लिए जो कसौटी है, क्या आपके अनुयायी उस पर खरे उतर रहे है?

उत्तर : हम अपने अनुयायियो को दो वर्गो मे विभक्त कर सकते है। जो लोग तेरापंथी परिवार मे जन्म लेकर स्वय को तेरापथी मानते हैं, वे जन्मना तेरापथी हैं। तेरापथी के लिए निर्धारित कसौटी पर खरे उतरने की बात उन पर पूरी तरह से लागू नहीं होती। जो लोग तेरापथ दर्शन को समझकर उसे स्वीकार करते है और उसके अनुरूप जीवनशैली अपनाते हैं, उनके आचरण पर किसी प्रकार का सन्देह क्यों किया जाए? इस दृष्टि से हम यह तो नहीं कह सकते कि सभी तेरापंथी धार्मिक दृष्टि से कसौटी पर खरे उतरते है। पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि कसौटी पर खरे उतरने वाले लोग भी कम नहीं है। उनके चिन्तन और आचरण मे लम्बी-चौडी दूरी नहीं है।

प्रश्न : तेरापथ का धार्मिक नेतृत्व वहुत सम्मान्य रहा है। किन्तु समाज की वर्तमान घटनाओ और परिस्थितियों के सन्दर्भ मे क्या यह कहा जा सकता है कि आज वह कसौटी पर है?

उत्तर : तेरापथ का धार्मिक सगठन बेजोड है, यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। दूसरे समाजो के वरिष्ठ और चिन्तनशील लोग भी निर्विवाद रूप से स्वीकार करते है कि तेरापथ का सगठन, अनुशासन और व्यवस्थाएं अपने आप मे अपूर्व है। इस अपूर्वता के कारण ही आकार मे छोटे से और नवोदित तेरापथ सघ ने वरीयता प्राप्त की है और इस संघ की प्रवृत्तिया दूसरो के लिए प्रेरणादायी सिद्ध हो रही है। तेरापथ को सशक्त और सम्मान्य नेतृत्व देने का सर्वोपरि श्रेय आचार्यश्री भिक्षु को प्राप्त है। उस नेतृत्व की क्षमता और सम्मान मे आज भी कोई कमी है, मेरा अनुभव ऐसा नही है। नेतृत्व ऐसी साधारण चीज तो है नही, जिसे कुछ व्यक्ति चुनौती दे सके। सघ की नीव इतनी सुदृढ है कि कोई भी घटना और परिस्थिति इसे हिला नहीं सकती। वैसे छुटपुट परिस्थितिया कब नहीं आतीं? प्रत्येक परिस्थिति तेरापथ सघ के नेतृत्व को नया निखार देती रही है और देती रहेगी, यह मेरा दृढ विश्वास है।

एक दृष्टि से चिन्तन करे तो हमारे पूर्वजों का युग श्रद्धाप्रधान युग था। उस युग मे नेतृत्व के प्रति सहज आस्था थी। वर्तमान जन-मानस आस्था को तर्क की कपोपल पर कसता है । जिस सघ मे सैकडो प्रबुद्ध साधु-साध्विया है, जिस सघ के अनुयायी वौद्धिकता के क्षेत्र मे प्रगति पर है, वहा एक ही नेतृत्व के आधार पर सारी व्यवस्थाओ का सचालन वर्तमान युग की विशेष घटना है। मुझे अपने धर्मसघ के उन सव वफादार लोगो पर नाज है, जो धर्मशासन के धार्मिक नेतृत्व को स्थायित्व देने मे अपना योगदान कर रहे है। धर्मसघ मे सेना का शासन नही होता। आत्मानुशासन का विकास ही संघ की शालीन परम्पराओ को सुरक्षित रख रहा है। इतने वडे सघ मे उतार-चढाव भी असम्भव

नहीं है, पर इससे नेतृत्व को किसी प्रकार की आंच आने वाली नहीं है। हमें अपने पूर्वाचार्यो द्वारा विरासत मे जो कुछ प्राप्त हुआ, उसका पल्लवन करना हमारा दायित्व है। इस दायित्व से प्रतिबद्ध होकर हम अपने धार्मिक नेतृत्व को और अधिक सशक्त बना सकेंगे।

जैनधर्म

प्रश्न : जैनधर्म में जनधर्म बनने की क्षमता है, ऐसा आपने बताया। वह कौन-सा अभिक्रम है, जिसके द्वारा यह कथन क्रियात्मक रूप ले सकता है?

उत्तर : जैनधर्म में जनधर्म बनने के पर्याप्त तत्त्व हैं। यहां कुछ तत्त्वों का उल्लेख किया जा रहा है—

१. जैनधर्म मानवतावादी है। जाति और रंग के आधार पर मनुष्य को विभक्त नहीं करता। एक्का मणुस्सजाई—मनुष्य जाति एक है। इस सिद्धांत मे उसका विश्वास है।

२. जैनधर्म ने धर्म के सार्वभौम सिद्धांतो का प्रतिपादन किया है। अपने सम्प्रदाय से बाहर जो है, उनके लिए भी मोक्ष अथवा परमात्मा बनने का दरवाजा बन्द नही किया।

३. जैनधर्म अनेकान्तवादी है। उसने प्रत्येक धर्म और व्यक्ति के विचारो में सत्य को खोजने की दृष्टि दी है।

४. जैनधर्म समन्वयवादी है। उसने विरोधी प्रतीत होने वाले विचारो मे सापेक्ष दृष्टि से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसका फलित है—विरोधी विचारो, सामाजिक और राजनीतिक प्रणालियो मे सामञ्जस्य।

५. जैनधर्म ने विश्वमैत्री और विश्व-शांति के लिए अहिसा और अपरिग्रह के सिद्धान्त का विकास किया। उसमे स्वस्थ समाज के निर्माण की क्षमता है।

जातिवाद, साम्प्रदायिक अभिनिवेश, मिथ्याग्रह, निरपेक्ष दृष्टि और सहअस्तित्व-विरोधी अवधारणा—ये धर्म को संकुचित बनाते है। जैनधर्म इन अवधारणाओ से परे रहा है। उसमे विश्वधर्म

बनने की क्षमता है। किन्तु उसका सम्यक् प्रचार नहीं हो सका, उसके सिद्धान्त जन-जन तक नहीं पहुंचाए जा सके, इसलिए वह विश्वव्यापी अथवा विश्वधर्म नहीं बन सका। यदि जैनधर्म के सिद्धान्त सही रूप में जनता तक पहुंच सकें तो उनकी व्यापकता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

प्रश्न : जैनधर्म मे जनधर्म या विश्वधर्म बनने की अर्हता के कुछ बिन्दुओ की चर्चा सुनने के बाद ऐसा लगता है कि जैनधर्म आज भी एक सीमित दायरे मे है। इस विषय में आपका क्या चिन्तन है?

उत्तर : जैनदर्शन में विश्वदर्शन बनने की क्षमता है, यह तथ्य निर्विवाद है। ऐसा व्यापक, उदार और वैज्ञानिक दर्शन दुर्लभतम होता है। कुछ बाते व्यापक होती हैं, पर वैज्ञानिक नहीं होतीं। कहीं वैज्ञानिकता होती है, किन्तु व्यापकता नहीं होती। जैनदर्शन मे एक साथ सारी बाते मिल जाती है। प्रश्न है वह विश्वदर्शन क्यों नहीं बना? क्यो नहीं बन रहा? ऐसी जिज्ञासा अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि जैनधर्म या दर्शन के मंच से ऐसा कुछ भी नहीं हो पाया है। किन्तु जैनदर्शन के मौलिक सिद्धातो—सापेक्षता, समन्वय, सहअस्तित्व आदि की गूंज पूरे विश्व मे है। विश्व के लोग जैन नहीं बने, यह सचाई है। फिर भी जहां कहीं सापेक्षता, समन्वय आदि तत्त्व जीवनशैली के साथ जुडेगे, वहा महावीर का दर्शन स्वतः फलित हो जाएगा।

इस सन्दर्भ में जोधपुर रोटरी क्लब का एक प्रसंग उद्धृत करना चाहता हूं। वहां के एक प्रबुद्ध व्यक्ति ने प्रश्न पूछा—'जैन लोगों की संख्या इतनी कम क्यों है?' मैने कहा—'संख्या की दृष्टि से जितने आकडे सामने आये है, वे सही नहीं है। क्योकि इन आंकडों मे उन सब लोगो को सम्मिलित किया गया है, जो जैन परिवार मे जन्मे है। जैनो मे बहुत लोग ऐसे हो सकते है, जिनको न तो जैन सिद्धांतो की जानकारी है और न वे उन सिद्धांतो का पालन करते है। ऐसे लोगों को गणना मे सम्मिलित

न करें तो जैनों की संख्या और कम हो जाएगी।' किन्तु इसके साथ एक दूसरा दृष्टिकोण भी है—'जो लोग जैन नहीं है, फिर भी अहिंसा में आस्था रखते हैं, उन्हें कर्मणा जैन क्यो नहीं माना जाए?'

प्रश्न : सम्यक्त्व दीक्षा और व्रत दीक्षा में क्या अन्तर है?

उत्तर : अभी मेरे मस्तिष्क में चार प्रकार की दीक्षा की परिकल्पना है—सम्यक्त्व दीक्षा, व्रत दीक्षा, उपासक दीक्षा और महाव्रत दीक्षा। महाव्रत दीक्षा स्वीकार करने वाला मुनि होता है। वह गृहत्यागी होता है और जीवन भर के लिए पांच महाव्रतों को स्वीकार करता है। उपासक दीक्षा स्वीकार करने वाला श्रावक ही होता है, पर वह विशिष्ट साधक की भूमिका में पहुंच जाता है। श्रावकधर्म की आराधना के साथ वह उपासक श्रेणी का प्रशिक्षण प्राप्त करता है, कुछ तत्त्वज्ञान सीखता है और प्रतिवर्ष कम-से-कम एक महीने का समय संघ सेवा में लगाने का लक्ष्य रखता है। प्रशिक्षित उपासक यथासंभव पर्युषण-यात्रा करता है तथा क्षेत्रीय सभाल की अपेक्षा हो तो उसके लिए भी कुछ समय लगाता है। सम्यक्त्व दीक्षा और व्रत दीक्षा का संबंध श्रावक जीवन से है। सम्यक्त्व का अर्थ है—सम्यग्दृष्टि का निर्माण। शांति, मुमुक्षा वृत्ति, अनासक्ति, करुणा और आस्था—ये पांच सम्यक्त्व के लक्षण हैं। व्रत दीक्षा सम्यक्त्व की उत्तरकालीन स्थिति है। पूर्वोक्त तत्त्वों का विकास होने के बाद आत्मसयम की विशेष प्रेरणा से व्रतों का ग्रहण होता है। सम्यक्त्वी श्रावक जब तक छोटा-बड़ा कोई व्रत स्वीकार नहीं करता है, आत्म-विकास की चौथी भूमिका पर ही अवस्थित रहता है। पांचवीं भूमिका पर पहुचने के लिए उसको व्रती बनना होता है। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—इन १२ व्रतों की सम्यक् अवगति और जीवन मे उसकी परिणति व्रत दीक्षा है। भगवान महावीर के अनुयायियों की संख्या करोड़ों तक जा सकती है किन्तु व्रती श्रावक तीन लाख ही थे। सम्यक्त्व दीक्षा आत्मसंयम का संबोध देती है और व्रत दीक्षा

आत्मसयम की प्रेरणा से व्यक्ति को अनुशासित करती है। सम्यक्त्व आत्मसंयम का आदि बिंदु है और व्रत उसको पोषण देने वाली सकल्पशक्ति का प्रयोग है।

प्रश्न : कर्मणा जैन का प्रयोगात्मक स्वरूप आप क्या मानते हैं?

उत्तर : हमने कर्मणा जैन की पूरी प्रक्रिया तैयार की है। उसका स्वरूप इस प्रकार है–

धर्म की आराधना के लिए न किसी जाति की बाधा है और न किसी सम्प्रदाय की। वह तो जीवन का तत्त्व है, उसका सम्बन्ध कर्म या आचरण के साथ है। भूल यह हुई कि उसे जन्म के साथ जोड दिया गया। जैनकुल मे जन्म लेने वाला जैन कहलाता है, भले ही उसका आचरण जैनधर्म के अनुरूप न हो। वैष्णव आदि किसी अन्य कुल मे जन्म लेने वाला व्यक्ति जैन नहीं कहलाता, भले ही उसका आचरण जैनधर्म के अनुरूप हो। इस प्रकार की अवधारणा कब और क्यो बनी? शोध का विषय है। प्रस्तुत संन्दर्भ में भगवान महावीर का अभिमत यह है–

कम्मुणा बभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

जन्म से कोई व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नही होता। उसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होने का आधार उसका आचरण है। धर्म के विषय मे भी यह सिद्धान्त लागू होता है। कोई भी व्यक्ति जन्मना धार्मिक नहीं हो सकता। जन्मना जाति हो सकती है, धर्म नहीं। जन्मना जैन या वैष्णव हो सकता है, पर अणुव्रती नहीं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को कर्मणा धार्मिक वनने का लक्ष्य निर्धारित करना है।

किसी भी जाति, कुल या सम्प्रदाय मे जन्म लेने वाला कर्मणा जैन बन सकता है। जन्मना जैन व्यक्ति भी जव तक कर्मणा जैन नहीं वनता है, तव तक वह सही. अर्थ मे धार्मिक

नहीं होता। कर्मणा जैन किसे माना जा सकता है? इसके लिए कुछ अर्हताए निश्चित है–

१. कर्मणा जैन वह होगा–
   (क) जिसका दृष्टिकोण सही हो।
   (ख) जिसका ज्ञान सही हो।
   (ग) जिसका आचरण सही हो।

२. कर्मणा जैन वह होगा–
   (क) जिसका अहिसा मे विश्वास हो।
   (ख) जिसका अनाग्रह या सापेक्षता में विश्वास हो।
   (ग) जिसका आत्मकर्तृत्व मे विश्वास हो।
   (घ) जिसका आहार शुद्धि मे विश्वास हो।

३. कर्मणा जैन वह होगा–
   (क) जो जातिवाद और छुआछूत को प्रश्रय न दे।
   (ख) जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर रहे।

४. जो कर्मणा जैन होगा, वह अपने जीवन मे अहिसा का विकास करेगा। इसके लिए वह भगवान महावीर को अपना आदर्श मानेगा और पथदर्शक के रूप में गुरु को स्वीकार करेगा।

कर्मणा जैन के लिए न्यूनतम नियम–
   १. मै किसी निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करूगा।
   २. मै आत्महत्या नहीं करूंगा।
   ३. मै मासाहार तथा मद्यपान नहीं करूंगा।
   ४. मै व्यसनमुक्त रहूगा।
   ५. मैं हरा-भरा बडा वृक्ष हाथ से नहीं काटूंगा।

प्रश्न : जैनधर्म व अन्य धर्मो मे आप बुनियादी भेद क्या मानते है?

उत्तर : जहा तक भारतीय धर्मो की धारणाओ का प्रश्न है, सभी धर्म निर्वाणवादी है। उनका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। यद्यपि मोक्ष की परिभाषा, स्वरूप, साधना और प्रक्रिया में अन्तर है। फिर भी उसके साधन सत्य, अहिसा आदि को सैद्धान्तिक रूप से सभी

की मान्यता प्राप्त है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि भारतीय धर्मों मे ऐसा कोई बुनियादी भेद नहीं है, जिसके आधार पर उनमें सर्वथा भिन्नता स्थापित की जा सके। किन्तु इस अभेद-निरूपण का अर्थ यह भी नहीं है कि उनमे कोई मौलिक भेद है ही नहीं। ऐसा कोई भेद नहीं होता तो धर्मो के व्यावहारिक आदर्शों की रूपरेखा में भी इतनी भिन्नता का दर्शन नहीं होता।

जैनधर्म की अपनी कुछ मौलिक विशेषताएं हैं, जो उसे अन्य धर्मो से अलग करती हैं। उन्हें इस रूप में भी निरूपित किया जा सकता है :

- आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व और कर्तृत्व।
- सृष्टि के निर्माता और संचालक के रूप मे किसी एक शक्ति का अस्वीकार।
- ईश्वर के रूप मे मान्य किसी एक शक्ति का अस्वीकार।
- मुक्त आत्मा के पुन॰ संसार में अवतरण का अस्वीकार।
- अनेकान्तवाद।
- जातिवाद, वर्णवाद आदि की अतात्त्विकता।
- रूढ क्रियाकाण्डों का अस्वीकार।

जैनधर्म पुरुषार्थप्रधान धर्म है। इसने ईश्वर की सत्ता को भिन्न रूप से स्वीकार किया है। एकेश्वरवाद में इसका विश्वास नहीं है। सृष्टि के संचालन मे भी ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। ईश्वर (परमात्मा) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त शक्ति का पुंज है। ईश्वर किसी संख्या मे सीमित नहीं है। संसार की किसी भी परिस्थिति से द्रवित होकर वह पुन॰ अवतार नहीं लेता। हर प्राणी अपनी आत्मशक्ति को उजागर कर ईश्वर बन सकता है। आत्मा पांच भूतों की समन्विति मात्र नहीं है। वह स्वतंत्र तत्त्व है और उसकी सत्ता काल के हर विभाग में वनी रहती है। हर आत्मा अपने कर्तृत्व से ही ऊर्ध्वारोहण करती है। उसके अध॰पतन में भी वह स्वय ही कारण वनती है।

अनेकान्त जैनधर्म की मौलिक देन है। यह केवल दार्शनिक

चर्चा का तत्त्व ही नहीं है, व्यवहार में भी बहुत उपयोगी है। अनेकान्त का अर्थ है—एक वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का स्वीकार। इस स्वीकृति के पीछे जो अपेक्षा रहती है, वह 'स्यात्' शब्द के द्वारा जानी जाती है। इस दृष्टि से माना जा सकता है कि अनेकान्त एक दार्शनिक मान्यता है। उसके द्वारा तत्त्व के प्रतिपादन की पद्धति का नाम स्याद्वाद है। यद्यपि दूसरे धर्मों द्वारा भी कुछ परिस्थितियो मे अनेकान्त को अपनी मान्यता दी जाती रही है, पर इसमें उनकी मौलिकता जैसा कुछ नहीं है। जैनधर्म ने अपने स्वतत्र और मौलिक चिन्तन के रूप मे अनेकान्तवाद को प्रस्तुति दी है।

प्रश्न : ईसाई, इस्लाम आदि धर्मो के अनुयायी एक न्यूनतम आचार-सहिता का पालन करते है। क्या जैनो की भी ऐसी कोई आचार-संहिता है? नहीं तो आपकी दृष्टि मे उसका क्या प्रारूप हो सकता है?

उत्तर : सामान्यत' प्रत्येक धर्म की आचार-सहिता होती है। जिस धर्म के अनुयायी परम्परागत आचार-संहिता से पूरे प्रतिबद्ध रहते है, वह पीढी-दर-पीढी आगे संक्रांत होती रहती है। जिस धर्म के अनुयायी उसके प्रति उपेक्षा रखते है, वह आचार-संहिता धीरे-धीरे लुप्त होने लगती है। जैनधर्म की भी अपनी न्यूनतम आचार-सहिता है। उसके प्रति प्रतिबद्धता का भाव कम होने से आज जैन लोगो की धार्मिक चर्या में एकरूपता नहीं रह पाई है। सलक्ष्य प्रयत्न किया जाए तो न्यूनतम आचार का एक रूप स्थिर हो सकता है। युगीन परिस्थितियो के सन्दर्भ मे उसका संभावित प्रारूप यह है—

- दिन मे कम-से-कम तीन बार नमस्कार महामत्र की पांच-पाच आवृत्ति।
- सावत्सरिक महापर्व की एकता। उस दिन पूरा उपवास, सब प्रकार के कारोबार बन्द और सावंत्सरिक 'खमतखामणा' का प्रयोग।
- महावीर जयन्ती(भगवान महावीर का जन्म दिन), दीपावली

(भगवान महावीर का निर्वाण दिन), अक्षय तृतीया (भगवान ऋषभ की तपस्या के पारणा का दिन) आदि जैन पर्वो को एक निश्चित और व्यवस्थित पद्धति से मनाना।

- खान-पान की शुद्धि। जैन शाकाहारी होता है, इसलिए किसी भी स्थिति मे मद्य-मांस का सेवन नहीं करना।
- व्यसन-मुक्त जीवन जीना।
- निरपराध प्राणी की हत्या, आत्महत्या और भ्रूण-हत्या नहीं करना।
- क्रूर हिंसा-जनित किसी भी वस्तु का उपयोग नहीं करना।
- जातिवाद, छुआछूत जैसी अमानवीय प्रवृत्तियो को प्रश्रय नहीं देना।

प्रश्न : एक समय मे जैनधर्म का प्रभुत्व जनसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओं तक था। आज वह एक वर्ग-विशेष में ही सिमटकर क्यों रह गया है?

उत्तर : धर्म के प्रणेता और नेता जितने प्रभावशाली होते है, धर्म का प्रभाव उतना ही अधिक बढता है। उनके साथ कुछ तान्त्रिक और मान्त्रिक शक्तियों का भी महत्त्व होता है। प्राचीन काल में कुछ प्रभावशाली आचार्यो ने चामत्कारिक शक्तियो का उपयोग कर राजाओं पर प्रभाव छोडा। एक राजा जैन बना तो उसके साथ लाखो लोग अनायास ही जैन बन गए। राजाओ का युग समाप्त हुआ। नेतृत्व का प्रभाव क्षीण हुआ। वैसी स्थिति में किसी व्यक्ति विशेष के नाम से धार्मिकता का प्रवाह बहने की प्रक्रिया में अवरोध आ गया।

उस समय जैन लोगों के पास, विशेष रूप से दाक्षिणात्य जैनो के पास सेवा के कार्यक्रम थे। वे अपने-अपने गांवो-कस्बो में सबके लिए भोजन की व्यवस्था रखते थे। औषधियां सुलभ करवाते थे। शिक्षा की सुविधा देते थे और जैनधर्म स्वीकार करने वालों को सब तरह से अभय बना देते थे। इन चारो कार्यक्रमों

का व्यापक प्रभाव था। इस कारण जनता सहज ही जैनधर्म से आकृष्ट हो जाती थी। किसी भी धर्म के सिद्धान्त कितने ही ऊंचे क्यो न हों, सेवामूलक कार्यक्रमो के अभाव में वे जनता द्वारा ग्राह्य नहीं बनते। जब तक देश मे जैन लोगो का वर्चस्व स्थापित नहीं होगा और उनके द्वारा सेवा के प्रभावी कार्यक्रम नहीं किए जाएंगे, जैनधर्म को आम आदमी तक पहुंचाना कठिन प्रतीत होता है।

जातिवाद, छुआछूत, साम्प्रदायिकता आदि संकीर्णताएं जैनधर्म मे नहीं थीं। युग के प्रवाह मे बहकर जैन लोगो ने अपने परिवेश मे इनको पनपने का अवसर दिया। जैनधर्म के वर्ग विशेष में सिमटने का यह भी एक प्रमुख कारण है।

प्रश्न : महावीर के सिद्धान्त सार्वभौम होने पर भी उनका प्रसार-क्षेत्र सीमित क्यो है? आम आदमी तक उनकी पहुंच क्यो नहीं हुई?

उत्तर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त चिन्तन सही नहीं है। मेरे अभिमत से उनके अनुयायियों की सख्या कम हो सकती है पर उनके दर्शन को मानने वाले व्यक्तियों के वर्ग सीमित नहीं है। भगवान महावीर के सिद्धान्त व्यापक है। उनका प्रसार कुछ कौमो तक सीमित रहने की बात उत्तर भारत मे अधिक है। हमने अपनी दक्षिण भारत की यात्रा मे अनुभव किया कि भगवान महावीर के सिद्धान्त हर वर्ग, जाति या कौम में प्रभावशील है। उत्तर भारत में जो संकीर्णता आई उसके दो कारण हैं—साम्प्रदायिक सघर्ष और कठोर आचार-संहिता।

साम्प्रदायिक संघर्षो मे जैन लोग अल्पसंख्यक होने के कारण पराभूत होते रहे और जैनदर्शन की व्यापकता कम होती गई। जैनदर्शन का सबसे बडा सिद्धान्त है—समता। इस सिद्धान्त के गौण होने के कारण है पर्वधर्म की मुख्यता, क्रियाकाण्डो की प्रधानता और आचार-धर्म की उपेक्षा।

जैनसाधना पद्धति में स्वीकृत चर्या सहज और सरल नहीं है। पदयात्रा, भिक्षा से जीवन निर्वाह, संयम और सादगीपूर्ण जीवन,

सर्दी-गर्मी आदि प्राकृतिक प्रतिकूलताओं को सहना आम आदमी के लिए सभव नहीं होता। इसी कारण जैन मुनियों की संख्या बहुत अधिक नहीं हो सकती। चर्यागत जटिलता के कारण जैन मुनियो का विहारक्षेत्र सीमित है। जैनधर्म के बारे में कुछ भ्रान्तिया भी हैं। अनेक लोगो की दृष्टि में जैन श्रावको की आचार-संहिता बुद्ध की मध्यम-प्रतिपदा से कठोर है। वैदिक परम्परा में आचरणगत कठोरता की बात वैसे ही नहीं है। ऐसी स्थिति मे जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों को समझने और आत्मसात् करने की मानसिकता का निर्माण ही कठिन है। जिन लोगों को समझने का मौका मिलता है, वे जाति, सम्प्रदाय के भेदभावों से ऊपर उठकर जैनधर्म स्वीकार करने मे गौरव का अनुभव करते है।

प्रश्न : भगवान महावीर जातिवाद को अतात्त्विक मानते थे। फिर भी उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म—जैनधर्म आज एक जाति विशेष के कटघरे मे आबद्ध क्यों हो गया?

उत्तर : भगवान महावीर ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया, उसे उनके अनुयायियो ने इतना धूमिल कर दिया कि स्वय महावीर आकर देखे तो पहचान नहीं पाएगे। उन्हें सोचना होगा कि क्या यह वही धर्म है, जो उनके द्वारा प्रवर्तित था? उनका धर्म आत्मशुद्धि या आत्मशान्ति के लिए था। धर्म के आचरण से जीवन पवित्र बनता था। इस नितान्त शुद्ध धर्म मे ऐसे तत्त्वो की घुसपैठ हो गई, जो उसे क्रियाकाण्डों तक ही सीमित रखते है। लोकरजन के लिए या रूढता के सहारे चलने वाला धर्म अपने स्वरूप की सुरक्षा कैसे कर पाएगा? कब थी धर्म मे छुआछूत की भावना! कब थी धर्म पर जातिवाद की प्रतिवद्धता! कब था धर्म मे द्रव्य-पूजा का प्रचलन! कब था धर्म में परिग्रह का प्रभुत्व! स्वय भगवान महावीर को कितने आडम्वर और परिग्रह से जोड दिया गया है।

मेरा यह स्पष्ट अभिमत है कि भगवान महावीर का धर्म जानिवाद, वर्गवाद और वर्णवाद के शिकजों मे कभी वन्दी नहीं

हो सकता। इस अवधारणा के आधार पर ही आचार्य भिक्षु ने सार्वभौम धर्म की घोषणा की। उनकी घोषणा के आधार पर ही हमने अणुव्रत और कर्मणा जैन का अभिक्रम प्रारंभ किया। इस अभिक्रम के माध्यम से अन्य जाति के लोग जैनधर्म से जुडकर अपने जीवन को नई दिशा देने के लिए कृतसकल्प हो रहे है। कुछ और आचार्यो ने भी इस दृष्टि से काम किया है। अब हमारे सामने समय भी अनुकूल है। सभी जैन सम्प्रदायो के चिन्तनशील लोग पुरुषार्थ करें तो जैनधर्म को बहुत व्यापक बनाया जा सकता है।

प्रश्न : भगवान महावीर ने जातिवाद को मान्य नहीं किया। किन्तु क्या कारण है कि उनके अनुयायी जातीयता के बन्धनो में उलझ गये? भगवान महावीर ने अपरिग्रह का संदेश दिया। किन्तु क्या कारण है कि उनके अनुयायी परिग्रह के संग्रह मे लगे हुए हैं?

उत्तर : भगवान महावीर के ही अनुयायी जातिवाद तथा परिग्रह के संग्रह मे उलझे हुए है, यह तथ्य ऐकान्तिक है। हर युग में चाहे वह एकतन्त्रीय हो या लोकतन्त्रीय जन-भावना परस्पर संक्रान्त होती है। भगवान महावीर के समय में भी जातिवाद की चर्चा प्रबल थी। इसीलिए उन्होने कहा—'जीवन मे तपस्या विशिष्ट है, जाति की कोई विशेषता नहीं है।' लोकप्रवाह के अनुसार उस समय मे उच्च, मध्यम और नीच कुलो का विवेचन मिलता है। लोकगर्हणीय कुलो मे भिक्षा के लिए जाने का निपेध आगमग्रन्थो में उपलब्ध है। इस सदर्भ मे प्रश्न यह है कि उच्च और नीच किसे मानें? मेरे अभिमत से ये मानदण्ड समय और परिस्थिति-सापेक्ष है। जाति के साथ इनका कोई निश्चित अनुबन्ध नहीं होना चाहिए। जात्यार्य, कुलार्य आदि के प्रसंग में उग्र, भोग, राजन्य आदि क्षत्रिय कुलों और वैश्यो को आर्य वताया गया है। आज इन कुलो का अस्तित्व ही नहीं रहा है। फिर भी उच्चता और नीचता की भावना समाप्त नहीं हुई है। वह केवल वर्तमान परिस्थितियो के अनुसार रूपान्तरित हो गई है।

दूसरी बात है पारिपार्श्विक धर्म का प्रभाव। भगवान महावीर के बाद मध्यकाल में जैन लोगों को वर्चस्वी आचार्यों का नेतृत्व प्राप्त नहीं हुआ। सक्षम नेतृत्व के अभाव में परिपार्श्व का प्रभाव हो, यह अस्वाभाविक नहीं है। शैवों और जैनों के संघर्ष में भी जैनों की काफी क्षति हुई। शैव-संस्कृति के प्रभाव को अस्वीकार करने से जैनों के सामने कुछ कठिनाइयां आने लगीं। फलतः न चाहने पर भी जैन समाज के लिए उन सस्कारों को स्वीकार करने की बाध्यता हो गई। अब फिर से जातिवाद को अर्थहीन मानने की बात चर्चा में है। जैन लोग इसे सहज रूप में स्वीकार रहे हैं, किन्तु कुछ रूढ़ धारणाओ के कारण यत्र-तत्र ऊहापोह भी होता रहता है।

प्रश्न का दूसरा पक्ष अपरिग्रह से संबंधित है। भगवान महावीर ने अपरिग्रह का उपदेश दिया। उनके जीवन-काल में उनके प्रमुख श्रावक आनन्द, शकडालपुत्र आदि करोडो की सपत्ति के स्वामी थे। बारह व्रत स्वीकार करते समय श्रावक आन्नद ने व्यक्तिगत उपभोग-परिभोग की विशेष सीमाएं की थीं। इसके आधार पर यह जाना जाता है कि व्यक्तिगत सग्रह और उपभोग-परिभोग की दृष्टि से अपरिग्रही मनोवृत्ति का महत्त्व है। सामूहिक और पारिवारिक रूप से बडे धन्धे तब भी होते थे। उस समय मशीनरी का इतना विकास नहीं हुआ था, अतः उद्योग मनुष्यों के हाथों पर ही निर्भर था। अब विज्ञान ने चामत्कारिक प्रगति की है। इससे उद्योग-धन्धों को भी विस्तार मिला है। वैयक्तिक स्वार्थ के लिए अतिसंग्रह की भावना वांछनीय नहीं है। भगवान महावीर ने श्रावक के अनेक गुणों में अल्पेच्छ, अल्पारंभी और अल्पपरिग्रही—इन गुणो का उल्लेख किया है। महावीर का युग हो या आज का, अनावश्यक हिंसा का वर्जन और परिग्रह का अल्पीकरण श्रावक जीवन का आदर्श है। व्यक्तिगत सग्रह और भोग पर नियन्त्रण अपरिग्रह अणुव्रत की मूल भावना है।

जैन मतावलम्वियों के संवंध मे कुछ भ्रान्त धारणाएं है। वे भी कुछ प्रश्नों को वार-वार उभारती हैं। कुछ लोगों की दृष्टि मे जैन परिवार आर्थिक दृष्टि से अतिसम्पन्न हैं। जव कि प्राय. जैन मध्यमवर्गीय परिवारों से संवंधित हैं। कुछ परिवारो के अधिक वैभव को पूरे जैन समाज पर आरोपित करने से उसकी परिग्रहवादी मनोवृत्ति उभरकर सामने आ जाती है। परिग्रह के संग्रह से सर्वथा दूर रहने वाले व्यक्ति कुछ ही हो सकते है। मूलतः परिग्रह के प्रति सीमाहीन आकर्षण, गलत तरीको से उसका अर्जन और दुरुपयोग—यह जैन संस्कारों में पले किसी भी व्यक्ति को काम्य नहीं होना चाहिए।

प्रश्न : आपके अहिसा आदि सिद्धान्त व्यापक हैं, मानव जाति के लिए उपयोगी हैं। आप इनका प्रचार जैनधर्म के वाने मे—सीमा मे ही क्यों करते हैं?

उत्तर : मेरे अभिमत से कोई भी वाना अहिसा के प्रचार मे वाधक नहीं है। वाना तो मात्र प्रतीक है। जैनधर्म और उसके सिद्धान्तों मे हमारी परिपूर्ण आस्था है। इसलिए हमने यह वेश धारण कर लिया। यह नहीं भी करते तो कोई-न-कोई वेश तो रखना ही होता। विना किसी वेश के हमारा काम चलता नहीं। ऐसी स्थिति में हम किसी भी धर्म का वाना स्वीकार करें, सार्वभौम सिद्धान्तो के प्रचार में कोई कठिनाई नहीं है। व्यवहार की भूमिका पर सीमा की उपेक्षा करना संभव नहीं। किसी संघ की सीमा मे रहकर व्यक्ति असीम दृष्टि से काम करे, यह एक प्रकार की व्यवस्था है। जहां दृष्टिकोण संकीर्ण है, वहां किसी प्रकार की सीमा या व्यवस्था न होने पर भी व्यक्ति व्यापक रूप से काम नहीं कर सकता।

प्रश्न : वर्तमान मे समाज से असंतुष्ट युवावर्ग को जैनधर्म से किस प्रकार की प्रेरणा मिल सकती है?

उत्तर : समाज से असंतुष्ट युवावर्ग को जैनधर्म से किस प्रकार की प्रेरणा मिले, इससे पहले चिन्तनीय विन्दु यह है कि युवावर्ग समाज

से असंतुष्ट है या अपने आप से? सामाजिक रूढियो से असतोष है उनमें विवेकपूर्वक परिवर्तन लाया जा सकता है और सामाजिक धारणाओ को बदला जा सकता है। किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मूल समस्या पुरुषार्थहीनता की है। युवावर्ग की कार्यजा शक्ति ही जब क्षीण हो तो उसे संतुष्टि की दिशा कहां से मिलेगी? पुरुषार्थ की कमी के साथ युवापीढ़ी को सही नेतृत्व भी नहीं मिल रहा है। कुल मिलाकर दायित्व-बोध और दायित्व-निर्वाह के प्रति जागरूकता में कमी एक ऐसा कारण है जो असतोष को निष्पन्न करती है। ऐसी स्थिति मे युवक चाहे तो जैनधर्म से बहुत बडी प्रेरणा ले सकते हैं। जैनधर्म पुरुषार्थवादी धर्म है। पुरुषार्थवादी व्यक्ति कभी भी दायित्व से विमुख नहीं हो सकता। ज्ञान, दर्शन और चारित्र विषयक निष्ठा तथा विकास का मार्ग प्रशस्त होने के बाद असंतोष, निराशा आदि का अस्तित्व स्वय समाप्त हो जाता है।

प्रश्न : आज के युवक अन्य धर्मो की ओर अधिक आकृष्ट रहते है पर जैनधर्म के प्रति उदासीन रहते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर : युवावर्ग का आकर्षण जैनधर्म क्या, किसी भी धर्म के प्रति है, यह विवादास्पद विषय है। जैनधर्म के प्रति उसकी उदासीनता का सबसे बड़ा कारण है जैनधर्म के वास्तविक स्वरूप की अवगति का अभाव। जैनधर्म का सही रूप या तो उन्हें समझाया नहीं जा रहा है, या उनकी समझ में आ नहीं रहा है। अधिकाश युवकों की यह धारणा है कि जैनधर्म बहुत कठिन है। इस धर्म को मानने का अर्थ है जीते-जी मर जाना। जैनधर्म के अनुसार शरीर नि सार और निकृष्ट है, अतः इसे कष्ट देना धर्म है। जैनधर्म आनन्दपूर्ण जीवन का पक्षपाती नहीं है—ये ऐसे विचार हैं, जिन्होने अनेक भ्रान्तियो को जन्म दिया है। जैनधर्म का आचार-पक्ष कठिन अवश्य है, पर शरीर को कष्ट देना धर्म है, यह बात कहां से आई? जैनधर्म की मौलिक स्थापनाओं और आचार मार्ग को सापेक्ष दृष्टि से प्रस्तुत किया जाए तो उसके

प्रति उत्पन्न होने वाली भ्रान्तियां स्वयं समाप्त हो सकती है।

आज की युवापीढ़ी समस्या-संकुल है। वह अपनी समस्याओं का सीधा समाधान चाहती है। जैनधर्म के सिद्धान्तों में वर्तमान युग की अनेकानेक समस्याओं का मूलस्पर्शी समाधान है, किन्तु उस गहराई तक पहुंचने का प्रयास वहुत कम हुआ है। आर्थिक समस्या से आक्रान्त युवक किसी चामत्कारिक सन्यासी अथवा देववाद का उपासक भी वन सकता है वशर्ते कि उसे आथिंक कठिनाई से मुक्ति का आश्वासन मिले। जैनधर्म के संयम का सिद्धान्त इस समस्या का प्रशस्त समाधान है, पर इसके पास आर्थिक समस्या का सीधा आश्वासन नहीं है।

वर्तमान के प्रवुद्ध युवक ध्यान और योग की प्रक्रिया के प्रति आकृष्ट भी हो रहे हैं। जैनधर्म में ध्यान और योग विद्या की सागोपाग पद्धतियां है, पर जैन लोगों ने उनको विस्मृत-सा कर दिया। इस कारण भी युवापीढी का आकर्षण अन्यत्र हो सकता है। कुछ वर्षो से उन पद्धतियों को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया जा रहा है। सभव है इससे जैनधर्म के प्रति प्रबुद्ध वर्ग का आकर्षण वढे।

प्रश्न : भारतीय इतिहास मे अनेक महापुरुष हुए है, सवने अपने अनुभव के आधार पर कुछ विशेष प्रकार के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। उन सव मनीषियो मे महावीर के अनुभव जितने गहरे थे, उतने दूसरो के नही थे। फिर भी क्या कारण है कि अन्य महापुरुषो का नाम जितना व्यापक है, महावीर का नाम उतना व्यापक नहीं बन पाया?

उत्तर : महापुरुषों को प्रसिद्धि देने वाले उनके अनुयायी होते हैं। वे स्वय अपना काम करते रहते है, उसका प्रचार-प्रसार भक्त लोग करते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर के दर्शन की गंभीरता तक पहुंचने का प्रयत्न उनके अनुयायियो ने भी नहीं किया। न उन्होने उसको जन-जन तक पहुंचाने में दिलचस्पी दिखाई। कहा तो यहां तक जाता है कि कुछ विदेशी विद्वान् भारत आए।

उन्होने महावीर-वाणी पर रिसर्च करने के लिए ग्रन्थों की मांग की। उस समय जैन श्रावको ने कहा—'हम अपने पवित्र ग्रन्थ म्लेच्छों के हाथो में नहीं दे सकते।' यदि यह बात सही है तो इससे बडा अज्ञान क्या होगा? अपेक्षा तो यह थी कि महावीर-वाणी को अनेक भाषाओ मे अनूदित कराकर जन-जन तक पहुंचाया जाता। किन्तु जो लोग स्वेच्छा से अंग्रेजी में काम करना चाहते थे, उन्हे ग्रन्थ भी उपलब्ध नही कराए गए। इस स्थिति पर विचार करते समय हमे अपने आप पर तरस आता है।

बौद्ध पिटको और वेदो पर अनेक भाषाओं मे उल्लेखनीय काम हो चुका है और हो रहा है। जबकि जैन आगमों पर अनुसन्धानात्मक कार्य अब होने लगा है। यह कमी महावीर के अनुयायियो की नहीं तो किसकी है? खैर, 'जब जागे तभी सवेरा'। अतीत के प्रमाद का प्रायश्चित्त करने के लिए आज भी महावीर-वाणी को जन-जन तक पहुचाया जा सकें तो महावीर दर्शन की व्यापकता स्वतः सध जाएगी।

महावीर के अधिसख्य अनुयायी व्यवसायी रहे है। उनका काम केवल अर्थार्जन का रहा। उन्होने जैनदर्शन के प्रचार-प्रसार का पूरा काम सन्तो पर छोड दिया। सन्तों की अपनी सीमाए होती है। उनके रहते वे असीमित क्षेत्रो मे जाकर काम नहीं कर सकते। यह भी एक कारण है महावीर के व्यापक न होने का।

तीसरा कारण है जैनदर्शन की गभीरता और भाषागत जटिलता। आत्मा, परमात्मा, कर्मवाद, पुनर्जन्म आदि गहरे सिद्धान्तों को जानने मे आम आदमी की रुचि नहीं होती। जिन थोडे लोगों की रुचि होती है, वे प्राकृत भाषा नही समझ पाते। इधर कुछ वर्षो से महावीर-वाणी को वर्तमान युग की भाषा में रूपान्तरित करने और उसको सम्पादित कर जनता तक पहुचाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इससे यह सभावना की जा सकती है कि निकट भविष्य में भगवान महावीर के जीवन और दर्शन को अधिक लोग जान पाएगे।

प्रश्न : जैनधर्म में पुरुषार्थ पर वल दिया जाता है किन्तु हम देखते हैं कि पुरुषार्थ चाहे कितना भी प्रवल क्यो न हो, इस दुनिया मे होता वही है जो नियति को मान्य है। जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ होते है। वे शताब्दियो, सहस्राब्दियो वाद घटित होने वाली घटना को ज्यो का त्यो वता देते हैं। ऐसी स्थिति मे क्या पुरुषार्थवादियों को अपने अभिमत पर पुनर्चिन्तन करके नियति को वलवान मानते हुए अपनी आस्था को उसी पर केन्द्रित नहीं कर देना चाहिए?

उत्तर : जैनधर्म केवल पुरुषार्थ पर ही वल देता है। यह बात सही नहीं है। वह पुरुषार्थ को मान्य करता है तो नियति को भी अमान्य नहीं करता। पुरुषार्थ और नियति दोनो के योग से काम होता है। नियति ही सव कुछ हो तो मनुष्य को हाथ-पाव हिलाने की अपेक्षा भी नहीं रहेगी। मेरे अभिमत से नियति का संवध कर्म-सिद्धात से है। पुरुषार्थ कर्म-फल के भोग मे परिवर्तन ला सकता है। नियति के निर्माण मे भी वह सहायक वनता है।

दूसरी वात, सैकडो वर्ष वाद होने वाली घटनाओ की जानकारी सर्वज्ञ दे सकते है, पर वे साधारण ज्ञान वाले व्यक्तियो का विषय नहीं बन सकतीं। ऐसी स्थिति मे हाथ पर हाथ रखकर वैठने की वात बुद्धिगम्य नहीं होती। कुछ-न-कुछ करते रहना मनुष्य की सहज वृत्ति है, इसलिए वह पुरुषार्थ को छोड नहीं सकता। जहा पुरुषार्थ फलित नहीं होता है और व्यक्ति चारो ओर निराशा से घिर जाता है, वहा आश्वासन के रूप मे नियति काम आती है। नियति को यही मान्य था, इस भावना से निराशा का कुहरा दूर होने लगता है। सर्वज्ञ नियति के बारे मे बताते हैं, पर वे यह भी जानते हैं कि नियति किस पुरुषार्थ से फलित होगी। इसलिए एकमात्र नियति पर आस्था केन्द्रित करने का कोई पुष्ट हेतु हमारे सामने नहीं है।

प्रश्न : आपने एक प्रवचन मे कहा था—जैनधर्म कोई सप्रदाय नहीं, विचार है। यदि यह बात सही है तो फिर विविध जैन सप्रदायों में

पूजा या उपासना की पद्धतियो को लेकर टकराव क्यो है? इस समस्या को सुलझाने के लिए आप क्या सुझाव देगे?

उत्तर : सचाई तो यही है कि जैनधर्म कोई सप्रदाय नही है। भगवान महावीर ने जिस रूप मे धर्म की व्याख्या की, वह विचार या दर्शन से अधिक कुछ भी नहीं है। उस दृष्टि से धर्म को पूजापाठ मे उलझाने का कोई औचित्य भी नही है। पूजापाठ सही अर्थ मे धर्म नहीं है, यह बात कहकर मै धार्मिक लोगो को उनकी उपासना विधि से विमुख करना नहीं चाहता। पर पूजापाठ को ही धर्म मान लेने से जो विडम्बना हुई है, उसे न समझना भी अच्छी बात नहीं है। पूजापाठ से धार्मिकता मे सहयोग मिले, इस सीमा तक वह आदेय है। किन्तु वह धर्म का मुखौटा पहनकर धर्म बन जाता है तब टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है। पूजा-उपासना की अपनी-अपनी आस्थाओ को जीवित रखकर भी धर्म के मौलिक स्वरूप को उजागर किया जाए तो अनेक समस्याए स्वय समाहित हो जाएगी।

प्रश्न : जैनधर्म देवी-देवताओ के चक्र से मुक्त होकर लोगो को पुरुपार्थी वनने की प्रेरणा देता है, फिर भी क्या कारण है कि उसमे श्रद्धा रखने वाले समाज की अधिसख्य महिलाए देवी-देवताओ के प्रति अधिक श्रद्धाशील है?

उत्तर : प्रत्येक व्यक्ति कुछ मानवीय दुर्वलताओ से आक्रान्त होता है। पुरुषो मे भिन्न प्रकार की दुर्बलताए होती है और महिलाओं मे भिन्न प्रकार की। जैनदर्शन पुरुपार्थ का प्रवल समर्थक है। आचारांग सूत्र मे स्थान-स्थान पर 'पुरिसा परक्कमेज्जा'—पुरुप! पराक्रम कर—यह प्रेरणा दी गई है। पराक्रम के क्षेत्र मे देवी-देवताओ से याचना करना दीनता की अभिव्यक्ति है। श्रद्धालु बहनो मे कुछ वहने ऐसी भी है जो किसी भी परिस्थिति मे देवी-देवताओ को अतिरिक्त महत्त्व नही देतीं। वे अपने कुलदेवो को भी कुल-परम्परा से अधिक महत्त्व नहीं देतीं। फिर भी अधिकांश महिलाए इस दृष्टि से आलोच्य वनी हई है। मेरे अभिमत

से इसका मूलभूत कारण है—मानसिक दुर्वलता। यद्यपि उनकी श्रद्धाशीलता मात्र लौकिक दृष्टि से है, धर्म की प्रेरणा से संभवत. वे ऐसी कोई प्रवृत्ति नही करती है। फिर भी जो है, वह पुरुषार्थहीनता का प्रतीक है। इसके लिए हम महिलाओ को ही दोषी नहीं ठहरा सकते। महिलाओ की हीनभावना और असत् आशंकाओ को निर्मूल करने के लिए आज तक कोई ठोस काम नहीं हुआ। जैनधर्म के पुरुषार्थवाद की भावना उनमे सप्रेषित की जाए तो सभव है आने वाली पीढी देववाद संवंधी अन्धविश्वासो से मुक्त हो सके।

प्रश्न : भगवान महावीर की उत्तरवर्ती आचार्य-परम्परा मे साधुत्व की भूमिका के सम्वन्ध मे आपके क्या विचार है?

उत्तर : भगवान महावीर के शासनकाल मे साधुत्व की एक ही भूमिका रही हो, यह नही कहा जा सकता। जिनकल्प और स्थविरकल्प साधना-पद्धति की चर्चा आगम साहित्य और उसके व्याख्यात्मक साहित्य मे प्राप्त है। समाज जितना वडा होता है, उसमे रहने वाले व्यक्तियो की भूमिकाओ का वर्गीकरण उतने ही व्यापक स्तर पर हो जाता है। सिद्धान्त की भापा मे आत्मविकास की चौदह भूमिकाओ (गुणस्थानों) मे नौ भूमिकाए साधुत्व की है। छठी भूमिका मे साधुत्व का प्रारम्भ होता है और चौदहवीं भूमिका तक पहुचते-पहुचते वह पूर्णता की स्थिति के अन्तिम विन्दु तक पहुच जाता है।

भगवान महावीर की उत्तरवर्ती आचार्य-परम्परा मे भी साधुत्व की विभिन्न भूमिकाए प्रवहमान रही है। मान्यता-भेद, परम्परा-भेद और अनेक उतार-चढावो के वावजूद साधुत्व की अनेक धाराए लुप्त नही हुई। साधुत्व की भूमिका मे सबसे बडा अन्तर दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व को लेकर उभरा। कालान्तर मे मूर्ति-पूजा और अमूर्ति-पूजा को लेकर एक भूमिका का उदय हुआ। इसी क्रम मे सविग्नपक्ष और चैत्यवास अस्तित्व मे आये। किसी समय ध्यान-साधना को विशेष वल मिला और किसी समय ज्ञानाराधना

का महत्त्व बढा। कुछ मुनियों ने चामत्कारिक लब्धियों के माध्यम से जैनशासन की प्रभावना की और कुछ मुनि राज्याश्रय में पलकर साधना करने लगे। इन सब विविधताओ में भी सबकी आस्था का मूलभूत केन्द्र जैनत्व ही रहा। जैनत्व की परिधि में साधुत्व के जितने रूप सामने आये, उनके सम्बन्ध में बहुत आलोचना हुई। खण्डन-मण्डन का क्रम चला। कटु शब्दो का प्रयोग भी हुआ, पर साधुत्व की आस्था को जीवित रखा गया।

भगवान महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यो की परम्परा अब तक चल रही है और तब तक चलती रहेगी जब तक एक भी व्यक्ति के अन्त.करण में अध्यात्म के अकुर अकुरित रहेगे। साधुत्व की मौलिक आस्थाएं सुस्थिर है तो परिवर्तन को भी नकारा नहीं जा सकता। इसलिए मै यह मानता हूं कि पचीससौ वर्ष की इस लम्बी अवधि मे साधुत्व की मूल आस्था मे अवरोध नहीं आया है और निकट भविष्य मे ऐसा सम्भव भी नहीं लगता।

प्रश्न : महावीर दिगम्बर (निर्वस्त्र) थे या श्वेताम्बर (श्वेतवस्त्रधारी)? यदि दिगम्बर थे तो श्वेताम्बरत्व की साधना को क्या दूसरी श्रेणी की साधना नही मानना चाहिए?

उत्तर : भगवान महावीर न दिगम्बर थे, न श्वेताम्बर। मेरी दृष्टि से वे चिदम्बर थे। चिद् का अर्थ है ज्ञान या चेतना। वे ज्ञान या चेतना के निस्सीम विकास के उपासक थे। साधना के पथ पर चलने के लिए उन्होने अपरिग्रह का व्रत लिया। उस समय एक देवदूष्य वस्त्र उनके पास था। साधुत्व की स्वीकृति के बाद उन्होने अपना अधिकांश समय ध्यान, कायोत्सर्ग आदि मे लगा दिया। वस्त्र की सम्भाल नहीं रह सकी और वह गिर पडा। ज्ञानोपलब्धि के बाद उन्होंने जनता को आत्म-साधना की प्रेरणा दी। साध्वाचार की दृष्टि से उन्होने श्वेताम्बरत्व और दिगम्बरत्व–दोनो पद्धतियों को मान्यता दी। संयमी जीवन के लिए परिगृहीत उपकरणो को उन्होने परिग्रह मे परिगणित नहीं किया। वस्तु परिग्रह नहीं, मूर्च्छा परिग्रह है–यह तथ्य भी इस वात का प्रमाण है। दशवैकालिक,

आचाराग आदि आगम ग्रन्थो मे विश्लेपित तत्त्वों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान महावीर के समय श्वेताम्वर, दिगम्वर जैसी भिन्न धारणा नही थी, जवकि उनके संघ मे दोनो प्रकार के मुनि साधना करते थे। अत· श्रेणी-भेद की दृष्टि से इन परम्पराओ मे कोई अन्तर नहीं है। किन्तु आगे चलकर इन परम्पराओ के पृष्ठपोपक आचार्यो या मुनियो में अपनी-अपनी परम्परा के प्रति व्यामोह उत्पन्न हो गया।

प्रश्न : आमतौर पर कहा जाता है कि जैनधर्म के अनुसार शरीर को कप्ट देना धर्म है। यह वास्तविकता है या इस सम्वन्ध मे आपकी अवधारणा भिन्न है?

उत्तर : शरीर को कष्ट देना धर्म है, यह धारणा सही नहीं है। जैनधर्म मे अज्ञान-कष्ट को कभी स्वीकृति नहीं मिली। साधना करते समय किसी प्रकार का कष्ट उपस्थित हो, उसे समभाव के साथ सहन करने का विधान है। धार्मिक व्यक्ति धर्म की आराधना करने के लिए कोई-न-कोई व्रत स्वीकार करता है। वह उपवास करे, रात्रिभोजन का परिहार करे, रात्रि मे पानी पीने का परित्याग करे या अन्य कोई सकल्प ले, उसकी परिपालना मे कष्ट की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर वह कष्ट शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं झेला जाता। मुख्य उद्देश्य है साधना। साधना काल में कष्ट आए, उन्हे सहन नहीं करना, लक्ष्य से विमुख होना है।

प्रश्न : जैन मुनि के लिए एक स्थान पर अधिकतम ठहरने की क्या मर्यादा है? उस मर्यादा-निर्माण के पीछे क्या दृष्टिकोण रहा है?

उत्तर : जैन मुनि के लिए जैन आगमों मे नवकल्पी विहार का विधान है। चातुर्मास का एक विहार और शेष आठ महीनो के एक-एक कर आठ विहार। इस विधान के अनुसार मुनि चातुर्मास के चार महीनों तक एक स्थान पर रह सकता है और शेषकाल में एक स्थान पर एक महीने तक रहा जा सकता है। अस्वास्थ्य, वृद्धावस्था अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशेष आराधना इस विधान

के अपवाद है। इन कारणो की उपस्थिति में एक स्थान पर लम्बे समय तक रहना असम्मत नहीं है। बिना कारण एक स्थान मे अधिक समय रहने का निषेध है। उसके पीछे कुछ उद्देश्य हैं—

- एक स्थान में अधिक रहने से साधुओं में सुविधावाद बढ सकता है।
- गृहस्थो के साथ अधिक सम्पर्क से साधना में बाधक रागात्मक परिचय बढ सकता है।
- अनेक क्षेत्रों के लोग साधु-साध्वियो के सान्निध्य से वचित रहने की स्थिति मे वहां धर्माराधना का ह्रास हो सकता है।

प्रश्न : साम्यवाद का एक सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार प्राप्त होना चाहिए। जैनधर्म के अनुसार आवश्यकता से अधिक सग्रह को अनर्थकर माना गया है। प्रश्न यह है कि साम्यवाद तथा अपरिग्रह व्रत में परस्पर सामजस्य और विभेद कहां है?

उत्तर : जैनधर्म में साम्यवाद जैसा शब्द नहीं है। वहा साम्ययोग की चर्चा है। जिसका संबंध आत्मौपम्य बुद्धि या आतरिक समता से है। साम्यवाद का उत्स आर्थिक विषमता है; जबकि साम्ययोग का धरातल विशुद्ध आध्यात्मिक है। साम्यवाद और अपरिग्रह मे सामंजस्य का जहां तक प्रश्न है, सैद्धान्तिक दृष्टि से वह कभी सभव नहीं है। साम्यवाद गरीबी की उपज है। अपरिग्रह गरीब और अमीर हर व्यक्ति के लिए आवश्यक है। एक अमीर व्यक्ति वस्तुओ का परिग्रह कम कर सकता है, इसी प्रकार गरीब व्यक्ति आकाक्षाओ का परिग्रह कम कर सकता है। अपरिग्रही मनोवृत्ति का निर्माण हुए बिना न बाह्य परिग्रह कम हो सकता है और न आंतरिक।

साम्यवाद का उद्देश्य और फलित अर्थ की परिधि मे है। अपरिग्रह आसक्ति-विसर्जन की प्रक्रिया है। इसका मूलभूत उद्देश्य

आत्म-विकास है। इसका प्रासगिक फल आर्थिक विषमता की समस्या का समाधान देने वाला भी है। साम्यवाद कानून और वल-प्रयोग से उद्देश्य-प्राप्ति की वात स्वीकार करता है। अपरिग्रह नितान्त हृदय-परिवर्तन का सिद्धात है। एक अमीर व्यक्ति की अतिरिक्त सगृहीत सपत्ति का समाज मे वितरण करने के वाद भी उसके मन मे उस सपत्ति के प्रति लगाव है, मूर्च्छा है तो वह अपरिग्रह नही हो सकता। साम्यवाद का सिद्धांत गरीव लोगों के मन को प्रिय लगता है, पर सम्पन्न व्यक्ति उससे व्यथा प्राप्त करते है। क्योंकि उन्हे वाध्य होकर अपनी अधिकृत वस्तुओ को छोडना पडता है। अपरिग्रह की स्वीकृति सम्पन्न और असम्पन्न सवके लिए सुखद है। साम्यवाद हिसा को सम्मत मान सकता है, किन्तु अपरिग्रह हिसा की पृष्ठभूमि पर टिक ही नहीं सकता। इस विश्लेपण के वाद साम्यवाद और अपरिग्रह में घटित होने वाला सामजस्य और विभेद स्वय स्पप्ट हो जाताकहै।

प्रश्न : तीर्थकरो की वाणी को जीवन मे न उतार कर सिर्फ अपने नाम के साथ 'जैन' लगाने वालो से आप क्या आशा रखते है?

उत्तर : धार्मिकता के सवंध मे दो परम्पराएं है—जन्मना और कर्मणा। कुछ व्यक्ति धार्मिक परिवार मे जन्म लेने मात्र से धार्मिक कहलाते है। कुछ व्यक्ति किसी भी जाति या परम्परा मे जन्म लेकर अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियो से धार्मिक वनते है। जैनकुल में जन्म लेने वाले व्यक्ति अपने नाम के साथ जैन लिखते है, यह व्यवहार है। वास्तविकता की दृष्टि से जैनत्व की छाप उस व्यक्ति पर होती है, जो जैन धर्म के आदर्शो के अनुरूप जीवनयापन करता है। किन्तु ससार केवल वास्तविकता को नहीं देखता। वह निश्चय और व्यवहार दोनो भूमिकाओ को महत्त्व देता है। मूल बात तो यह है कि नाम के साथ जैन लिखने या न लिखने मात्र से सिद्धि नहीं हो सकती। तीर्थकरो की वाणी को जीवनगत करना ही जीवन-विकास की सही दिशा है। जैनत्व के आदर्श का अनुगमन न हो, वैसी स्थिति मे भी नाम के साथ जैन शव्द लगाना अनुचित

नहीं है। क्योकि यह व्यक्ति की व्यावहारिक पहचान है। अत. इस प्रश्न को व्यवहार के संदर्भ में ही समाहित करना चाहिए।

प्रश्न : महावीर की सर्वज्ञता का क्या प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है?

उत्तर : महावीर ने जिन सूक्ष्म तत्त्वो का निरूपण किया है, वह उनकी सर्वज्ञता का स्वयभू प्रमाण है। उनके द्वारा निरूपित तत्त्वो में परमाणु एक ऐसा तत्त्व है, जहां तक वैज्ञानिक अब तक भी नहीं पहुच पाए है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सूक्ष्मता का इतना गंभीर विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। जीव की अफुसमाण–अस्पृशद् गति सामान्यत. बुद्धि का विषय ही नहीं बन पाती, उसका विवेचन महावीर ने किया है। पचास्तिकाय और षड् जीवनिकाय की जो मीमांसा महावीर ने की है, विलक्षण है। एक समय था, जब वनस्पति मे भी जीव नहीं माने जाते थे। वैज्ञानिको द्वारा प्रमाणित करने के बाद वनस्पति का जीवत्व सिद्ध हुआ है। उससे पहले ही महावीर ने वनस्पति को तो सजीव बताया ही था, पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु मे भी चेतना स्वीकार कर लोगो को चौका दिया। आज वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा ससार के किसी स्थान पर कही जाने वाली बात को पकडकर उसका प्रसारण किया जाता है। महावीर ने भाषा-वर्गणा और मनो-वर्गणा के 'लोकव्यापी स्फोट' की मान्यता का प्रतिपादन किया। इन सब तथ्यो के आधार पर यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि भगवान महावीर वैज्ञानिक ही नहीं, महान् वैज्ञानिक थे और उसका आधार उनकी सर्वज्ञता थी।

प्रश्न : भगवान महावीर ने साधना के क्षेत्र मे स्त्री जाति को पुरुषो के समकक्ष स्थान दिया है। फिर भी क्या कारण है कि दीक्षा-वृद्ध साध्वी भी नवदीक्षित साधु को वन्दना करती है?

उत्तर : पिछले कई वर्षो से मेरे सामने यह प्रश्न तीव्रता से उपस्थित हो रहा है। भगवान महावीर के समय मे दीक्षा-वृद्ध साध्वी नवदीक्षित साधु को वन्दना करती थी, यह तथ्य तत्कालीन किसी सन्दर्भ से ज्ञात नहीं होता। आगमों के व्याख्या साहित्य में जो

प्रसंग है, उस पर किसी अन्य दर्शन या लोक-मान्यता का प्रभाव हो सकता है। मेरे अभिमत से साधु और साध्वी मे चारित्र की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। उनको वन्दना करने की वात सर्वथा व्यावहारिक है। क्योंकि निश्चय दृष्टि से ससार के समस्त साधु-साध्वियो को प्रतिदिन वन्दन किया जाता है। दीक्षापर्याय मे वडी साध्वी भी साधु को वन्दना करे, यह परम्परा कव और क्यो प्रचलित हुई, अनुसन्धान का विषय है। वर्तमान विचारधारा के परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत प्रश्न पर चिन्तन करके हमने एक परिवर्तन किया है। उसके अनुसार साधु-साध्विया परस्पर एक दूसरे का अभिवादन करती है।

प्रश्न : साधना-काल मे भगवान महावीर के कानो में कील ठोकने की घटना इतिहास की दृष्टि से कहां तक सत्य है?

उत्तर : भगवान महावीर के कानो मे कील ठोकने और वैद्य द्वारा निकालने की वात वहुत चर्चित है। कील निकालते समय जो वेदना हुई उसे उत्कृष्ट परीषह माना जाता है। अनुश्रुति के अनुसार उस समय भगवान के मुख से चीख निकली थी। यह प्रसग आवश्यकचूर्णि, त्रिपष्टिशलाकापुरुपचरितम् और महावीरचरिय आदि ग्रन्थो मे वर्णित है। इसकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि घटना किसी न किसी रूप मे घटी अवश्य है। उनकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। इस घटना से सम्वन्धित तथ्य यथार्थ है, अतिशयोक्तिपूर्ण है अथवा उसके पीछे और कोई रहस्य है—इस सम्बन्ध मे सत्य-सन्धित्सु विद्वान् विशेष शोध कर अपनी सम्मतिया प्रस्तुत करे, इस वात की अपेक्षा है।

प्रश्न : महावीर त्रिकालदर्शी थे। क्या उन्हे यह ज्ञात नहीं था कि भविष्य मे जैनदर्शन के सम्बन्ध मे कुछ विवादग्रस्त प्रश्न उभर सकते है? यदि था तो उन्होने उनका समाधान क्यो नहीं किया? उदाहरणार्थ भूगोल सम्वन्धी प्रश्न पर आज के संदर्भ में महावीर ने समाधानपरक तथ्य उस समय प्रस्तुत क्यों नहीं किये?

उत्तर : भगवान महावीर अध्यात्मवादी व्यक्ति थे। उन्होंने आत्मवाद की भूमिका पर सूक्ष्म विश्लेषण किया तथा अन्य सब विपयो में मौलिक बातो का सकेतमात्र दिया। उन सकेतो के आधार पर उत्तरवर्ती आचार्यो ने विस्तृत विवेचन किया, जो आज हमे उपलब्ध है। दूसरी वात, भगवान के चिन्तन की सभी धाराए सापेक्ष है। उन धाराओ के पीछे जो अपेक्षाए रही है, उनको खोजना वर्तमान का काम है। आज जो समस्याए आयी है, हजार साल पहले उनका समाधान अनपेक्षित था। किसी भी समस्या को पहले समाहित कर देने से अगली पीढी अकिचित्कर हो जाती है। सर्वज्ञता से सव-कुछ जाना जाता है, पर बताना जरूरी नहीं है। इसलिए ऐसे प्रसगो पर वर्तमान के सन्दर्भ मे शोध आवश्यक है।

प्रश्न : महावीर के जन्म, दीक्षा, कैवल्य-प्राप्ति आदि प्रसगो का विस्तृत वर्णन इतिहास मे प्राप्त होता है। किन्तु क्या कारण है कि उनके निर्वाण के पश्चात् लोकाचार का कहीं कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता?

उत्तर : भगवान महावीर के निर्वाणोत्तर लोकाचार मे किसी नई पद्धति को काम में लिया गया हो, ऐसा प्रतीत नही होता। पूर्ववर्ती तीर्थङ्करो का लोकाचार जिस रूप मे हुआ, वही क्रम उस समय दोहराया गया होगा। देवो द्वारा निर्वाणोत्सव मे रत्नो द्वारा प्रकाश करना तथा राजाओ द्वारा दीप जलाकर दीपमालिका मनाने का प्रसग प्रसिद्ध है ही।

निर्वाणोत्तर लोकाचार का वर्णन क्यो नहीं है? इस प्रश्न के सन्दर्भ मे यह प्रश्न भी उठ सकता है कि उनके विवाह का वर्णन क्यो नहीं है? भगवान महावीर की पत्नी, पुत्री, दामाद आदि के नाम प्राप्त है, पर विवाह का कही उल्लेख नही है। सम्भव है इतिहासकारों ने इन घटनाओ को महत्त्व नहीं दिया हो। अथवा भगवान का जीवन-वृत्त वताने वाले गणधरो ने उन पद्धतियो का विश्लेपण नहीं किया हो।

प्रश्न : जैन परम्परा मे शकुन और मुहूर्त्त के सवध मे क्या मान्यता है? क्या शकुन और मुहूर्त्त पुरुषार्थ पर प्रतिघात नही करते, जवकि महावीर ने पुरुषार्थ पर अधिक वल दिया था?

उत्तर : यह सही है कि भगवान महावीर पुरुपार्थ के विशिष्ट प्रवक्ता थे। उन्होंने अपने साधनाकाल मे पुरुपार्थ की ज्योति जलाई और साधना की परिसम्पन्नता पर अनुभूत सत्य के रूप मे पुरुषार्थ का विश्लेषण किया। पुरुषार्थ को प्रतिष्ठित करते समय भी उनका दृष्टिकोण सापेक्ष था। पुरुषार्थ की तरह काल, नियति, स्वभाव आदि तत्त्व भी उनके चितन की परिधि मे समाहित थे।

शकुन-मुहूर्त्त आदि मात्र सूचक हैं। अच्छे शकुन और शुभ मुहूर्त्त मे सारे काम अच्छे ही हो, यह ऐकान्तिकता नहीं है फिर भी लोक-मान्यता और शास्त्र इनके प्रति विरोधी नही है। भगवान महावीर ने पुरुषार्थ पर पर्याप्त वल दिया, किन्तु शकुन-मुहूर्त्त आदि का निरसन नही किया। स्वय भगवान महावीर के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान आदि के प्रसंग मे नक्षत्रो की चर्चा वताती है कि कार्य की सफलता मे पुरुपार्थ के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, परिस्थिति आदि का भी योग रहता है। जैन परम्परा के अनुसार केवल शकुन या मुहूर्त्त को ही सव कुछ मान लेना ठीक नहीं है। इन्हे पुरुषार्थ के साथ पूरक माना जाए तो कोई वाधा नहीं है।

प्रश्न : महावीर निर्वाण के २५०० वर्ष वाद भी उनकी वाणी का सकलन आगमो के रूप मे उपलव्ध है। क्या महावीर के समय पार्श्वनाथ की वाणी का सकलन भी किसी रूप मे उपलव्ध था? इसका क्या कारण है कि पार्श्वनाथ के आगम २५० वर्षो वाद लुप्त हो गये, जव कि महावीर के आगम २५०० वर्ष बाद भी उपलव्ध है?

उत्तर : भगवान महावीर के समय मे भगवान पार्श्वनाथ का आगम साहित्य था या नहीं, इस सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है। फिर भी एक धारणा यह है कि चौदह पूर्वो का ज्ञान भगवान पार्श्व की वाणी मे सकलित था। भगवान महावीर से पूर्व उनका अस्तित्व था, इसीलिए उस सकलन को 'पूर्व' सज्ञा दी गई। ढाई

सौ या ढाई हजार वर्ष का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योकि प्रत्येक तीर्थकर अपने युग में धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होते हैं। उनके समय मे उनकी वाणी प्रमाण होती है। उनके बाद जब तक दूसरे तीर्थकर नहीं होते, उनकी परम्परा चलती रहती है। भगवान महावीर की परम्परा अब तक चल रही है इसलिए ढाई हजार वर्ष के बाद भी उनकी संकलित वाणी ही धर्म का एक मात्र आधार है। इस बीच कोई दूसरे तीर्थङ्कर हो जाते तो आज भगवान महावीर के आगमो की उपलब्धि भी कठिन हो जाती।

प्रश्न : सुना जाता है कि स्त्री को कुछ विशेष प्रकार की लब्धिया प्राप्त नहीं होतीं। क्योकि वह उस प्रकार की साधना नहीं कर पाती। यदि वह अमुक प्रकार की साधना ही नहीं कर सकती है तो मोक्ष कैसे पा सकती है? क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति के लिए तो परम पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है।

उत्तर : यह सही है कि स्त्री कुछ विशेप लब्धियों की उपलब्धि नहीं कर सकती। उसका कारण है उसकी शरीर-संरचना। लब्धियो की प्राप्ति के लिये कुछ ऐसे प्रयोग किये जाते है। जो एक स्त्री के लिए बहुत कठिन पड़ते हैं। प्रकृति से ही स्त्री का शरीर कोमल और दुर्बल होता है। लब्धियो के लिए किए जाने वाले प्रयोगो की जो प्रक्रिया है वह स्त्री शरीर के लिए उपयुक्त भी नहीं है। इस दृष्टि से अमुक-अमुक प्रकार की लब्धिया केवल पुरुप को ही प्राप्त हो सकती हैं।

मोक्ष-प्राप्ति के लिए वह शरीर-सापेक्ष प्रक्रिया अपेक्षित नहीं है। सवर धर्म और निर्जरा धर्म की उत्कृष्ट साधना से अनादिकाल से संश्लिष्ट आत्मा और कर्मो का सम्बन्ध टूट जाता है। शरीर वल क्षीण होने पर भी आत्म-वल की प्रवलता से निरोध और निर्जरण की विशिष्ट साधना हो सकती है। लब्धि-प्राप्ति और मोक्ष-प्राप्ति मे कोई अविनाभावी सवंध नही है। लब्धि प्राप्ति होने पर मोक्ष-प्राप्ति हो ही जाए अथवा लब्धियो के विना मोक्ष हो ही नही सकता, ऐसा नियम नहीं है। अतः लब्धियो के लिए

अवकाश न होने पर भी स्त्री मे मोक्ष-प्राप्ति की पूरी क्षमता है।

प्रश्न : जैनधर्म का विशिष्ट पर्व सवत्सरी भगवान महावीर की देन है अथवा उससे पूर्व भी यह पर्व मनाया जाता रहा है? प्राचीन काल में उसका स्वरूप क्या था?

उत्तर : पर्युषण की परम्परा अर्हत् पार्श्व के समय मे भी थी। अन्तर इतना ही है कि भगवान महावीर के समय मे पर्युषण कल्प अनिवार्य हो गया और अर्हत् पार्श्व के समय मे वह ऐच्छिक कल्प के रूप मे मान्य था। उस समय के साधु आवश्यकता समझते तो पर्युषणा करते। आवश्यकता प्रतीत नहीं होती तो नहीं भी करते।

पर्युषणा का मूल आधार वर्षावास-प्रवास है। उस समय वर्षा होती है। वर्षा के दिनो में हरियाली बढ जाती है। अनेक प्रकार के जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते है। मार्ग चलने योग्य नही रहता। इस स्थिति मे मुनि के लिए एक स्थान मे रहने की व्यवस्था है। इसके आधार पर ही पर्युषणा की कल्पना की गई। उसके साथ तपस्या, विगय का प्रत्याख्यान, प्रतिसलीनता, स्वाध्याय, ध्यान आदि कुछ साधना के प्रयोग और जुड गए।

अर्हत् पार्श्व के समय पर्युषण की व्यवस्था किस रूप मे चलती थी, उसका कोई स्वतत्र उल्लेख प्राप्त नहीं है। भगवान महावीर के समय मे भी उसका क्या स्वरूप था, कहना कठिन है। छेदसूत्रो मे पर्युपणविषयक कुछेक निर्देश मिलते है। उनका विशद वर्णन 'पर्युषणा कल्प' मे उपलब्ध है। वह महावीर-निर्वाण के वाद की रचना है। इसलिए उसमे उत्तरवर्ती व्यवस्थाए जुडी हुई है। सामान्यत इतना कहा जा सकता है कि पर्युषण का सम्वन्ध वर्षावास की स्थापना से है। भाद्रपद शुक्ला पंचमी का दिन उस दृष्टि से आखिरी दिन है। उसका अतिक्रमण नहीं हो सकता। उस दिन सावत्सरिक उपवास किया जाता था। पयुर्षण पर्व या सवत्सरी महापर्व मनाने का व्यवस्थित विकास उत्तरकाल में हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।

प्रश्न : हजारो वर्षो से चले आ रहे इस महापर्व से भारत वर्ष का लोक जीवन कहा तक प्रभावित हुआ है? क्या इस दिन के उपलक्ष्य मे देश भर में अहिसा दर्शन के सक्रिय प्रशिक्षण की कोई व्यवस्थित रूपरेखा बनाई जा सकती है?

उत्तर : इस पर्व का जितना प्रसार हुआ है, उतनी सीमा में जन जीवन प्रभावित भी हुआ है। इसका बहुत प्रसार नहीं हुआ, इसलिए व्यापक प्रभाव की बात भी कैसे सोची जा सकती है? विगत कुछ वर्षो से संवत्सरी पर्व के दिन को 'अहिसा दिवस' के रूप मे मनाने की बात चर्चा मे है। भारत सरकार के सामने भी यह प्रस्ताव रखा गया कि संवत्सरी पर्व को 'अहिसा दिवस' के रूप मे घोषित किया जाये। किन्तु जब तक सब जैन एक दिन को स्वीकार नहीं कर लेते, यह बात आगे नहीं बढ सकती।

यदि सब जैनों को एक दिन मान्य हो जाए तो 'अहिसा दिवस' की कल्पना साकार हो सकती है। उसके साथ अहिंसा के प्रशिक्षण की बात भी जोडी जा सकती है। अहिसा एक शाश्वत सचाई है और युग की माग है। आज की अनेक समस्याओ का समाधान है। 'अहिसा दिवस' के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा प्रशिक्षण की योजना को बहुत व्यापक रूप दिया जा सकता है। अब भी इस विषय मे कोई ठोस काम नहीं हुआ तो समय हाथ से निकल जाएगा। विश्व की सस्कृति के लिए मूल्यवान् हमारा यह महापर्व कब तक सर्व सहमति की प्रतीक्षा करता रहेगा?

प्रश्न : क्या जैन मतावलम्वी अपने इस महापर्व की आराधना मे पास-पडोस के लोगो को सम्मिलित करने का प्रयत्न करते है?

उत्तर : पर्युपण पर्व जितना महान् है, आध्यात्मिक, सामाजिक एव पारिवारिक दृष्टि से जितना उपयोगी है, उस अनुपात में उसे मनाने का व्यापक प्रयत्न कहां होता है? कुछ लोग थोडा-बहुत प्रयत्न करते हैं। यदि इसका समुचित मूल्याकन होता, इसके प्रचार-प्रसार मे जैन लोग शक्ति लगाते तो यह एक सार्वजनिक पर्व का रूप ले लेता। एक पर्युषण पर्व का क्या, जैनदर्शन के

अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का भी अपेक्षित प्रचार-प्रसार कहां होता है? जैन लोगों ने इस अपेक्षा को समझा ही नहीं है अथवा उनका ध्यान इधर गया नहीं है।

पयुर्षण पर्व का आध्यात्मिक मूल्य स्पष्ट है। इसका सामाजिक और पारिवारिक मूल्य भी कम नहीं है। समाज और परिवार मे सौहार्द की स्थापना मे इसकी मूल्यवान् भूमिका हो सकती है। इस दृष्टि से इसको सौहार्द या मैत्री का पर्व कहा जा सकता है। यदि वडे पैमाने पर सामाजिक एवं पारिवारिक परिप्रेक्ष्य मे 'मैत्री पर्व' की समायोजना हो तो भीतर-ही-भीतर घुलती अनेक गाठे खुल सकती है। आपसी वैर-विरोध का शमन हो सकता है। अदालत का दरवाजा खटखटाने से छुट्टी हो सकती है। घर की दहलीज के भीतर पाव रख परिवार में जहर घोलने वाली अन्य अनेक समस्याओ का समाधान खोजा जा सकता है।

मैत्री का यह पर्व विश्व के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। इसे किसी भी सम्प्रदाय की सीमा में आवद्ध करने का कोई औचित्य नहीं है। यह शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का पर्व है। सौहार्द का पर्व है। सहिष्णुता का पर्व है। जीवन के प्रति जागरूक वनाने वाला पर्व है। सामूहिकता का पर्व है। इसमें सबकी सभागिता हो, यह आवश्यक है।

प्रश्न : एक ही परम्परा मे एक सर्वोत्कृष्ट पर्व भिन्न-भिन्न समय मे मनाने की प्रथा कव और क्यों प्रचलित हुई?

उत्तर : जैन शासन मे दो मुख्य परम्पराएं हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दिगम्बर परम्परा मे आगम सूत्रों को अस्वीकार कर दिया गया। फलत अनेक परम्पराए छूट गईं। आश्चर्य है कि उस परम्परा मे पर्युषण जैसे पर्व का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। दिगम्बर लोग 'दस लक्षण' मनाते है। उसका प्रारम्भिक दिन पंचमी है। श्वेताम्बर परम्परा में प्राचीन काल से ही पर्युषण या संवत्सरी के लिए भाद्रपद शुक्ला पचमी का दिन निर्धारित रहा है।

अमूर्तिपूजक। मूर्तिपूजक सप्रदाय के अनेक गच्छ हैं। अमूर्तिपूजक संप्रदाय के दो विभाग है—स्थानकवासी और तेरापंथ। सक्षेप में जैन संप्रदायों के विस्तार का यह स्वरूप है।

इन सभी संप्रदायो मे तेरापथ की कुछ दुर्लभ विशेषताए है। एक आचार्य का नेतृत्व, एक प्रकार की आचार-व्यवस्था और तत्त्वनिरूपण की एक शैली—इस ऐक्य-त्रयी के आधार पर तेरापंथ ने अपनी अलग पहचान बना ली। कुछ सैद्धान्तिक मौलिकताए भी इसके वैशिष्ट्य को उजागर करती है। समन्वय का सिद्धान्त हमे विरासत से प्राप्त है। पर जब से हमने अणुव्रत आन्दोलन का काम शुरू किया, एक चिन्तन उभरा कि जब तक हम जैनो मे समन्वय का मार्ग प्रशस्त नहीं कर पाएंगे, अजैनो को निकट कैसे ले सकेगे? यही चिन्तन जैन-समन्वय की परिकल्पना का आधार बना।

अपनी-अपनी आस्थाओं को सुरक्षित रखते हुए सब सम्प्रदायो के लोग सामूहिक प्रयत्न करे तो जैन एकता का अभियान आगे बढ सकता है। भगवान महावीर की २५वीं निर्वाणशताब्दी के अवसर पर एक प्रयास हुआ था। उसके फलस्वरूप जैनो का एक ध्वज, एक प्रतीक और एक ग्रथ 'समणसुत्तं' सर्वमान्य हो गया। उस समय सोचे हुए मुद्दो मे दो काम शेष रह गए—सब जैनो की सवत्सरी एक हो तथा जैनो का एक मच हो। इसके लिए सब सम्प्रदायो के आचार्य और श्रावक मिलकर योजना बनाए तो अच्छा काम हो सकता है। इस दृष्टि से समय-समय पर कुछ प्रयास किए गए है। वर्तमान मे भी उन पर पूर्णविराम नहीं लगा है। हम उनके सकारात्मक परिणाम के लिए आशावादी है।

प्रश्न : जैन एकता के लिए मुख्य विमर्श योग्य विषय क्या है? उनकी सफलता का सार्वजनीन रूप आपकी दृष्टि मे क्या हो सकता है?

उत्तर : मेरे अभिमत से एकता हमारा साध्य नहीं, साधन है। जैनधर्म मे मूलभूत तत्त्व है—आत्मोपलब्धि। जैनदर्शन मे हमारा विश्वास है अत- आत्मोपलब्धि को साध्य मानकर उसके लिए साधन जुटाते

है। [illegible] विभिन्न [illegible] करना, [illegible] करना, [illegible] है। [illegible] जाता है।

[illegible] और [illegible] आत्मा का [illegible] सम्प्रदायों पर आक्षेप-प्रक्षेप नहीं करना, [illegible] करना, [illegible] करना।

[illegible] परिस्थितियाँ इस काम के लिए काफी अनुकूल हैं। विचार-समन्वय का [illegible] होगा। इसके अतिरिक्त जैन सम्प्रदायों में तीर्थ, धर्म-स्थान आदि को लेकर जो मनोभेद और संघर्ष चल रहे हैं, उनका समाधान होना भी बहुत ही आवश्यक है। जैन एकता के लिए जैन पर्वों की एकरूपता पहली अपेक्षा है। अन्यथा एक ही पर्व को मनाने का समय और पद्धति भिन्न होने से उसकी सार्वभौमिकता और मौलिकता खण्डित हो जाती है। एक और बात जैन एकता के लिए अपेक्षित है—वह है एक मौलिक अन्तःसाम्प्रदायिक आचार-संहिता का निर्माण। सब सम्प्रदायों के व्यक्ति एक सर्वमान्य आचार-संहिता का पालन कर भिन्न रहते हुए भी एकत्व की अनुभूति कर सकते हैं।

इस काम के लिए सब सम्प्रदायों के आचार्यों को अपने-अपने समाज को सही नेतृत्व देना होगा। पारस्परिक मिलन और विचार-विनिमय से अच्छे रास्ते निकालने होंगे तथा अपने-अपने सम्प्रदायों के छोटे-छोटे स्वार्थों का बलिदान कर जैनत्व की दृष्टि

से काम करना होगा। अपनी ओर से ऐसा प्रयास चल रहा है। मुझे विश्वास है कि दूसरी ओर से भी ऐसे प्रयत्न होंगे और हम भगवान महावीर की निर्वाण शताब्दी पर कोई महत्त्वपूर्ण काम कर सकेंगे।

जैन एकता से भी बड़ी बात है सर्वधर्म-सद्भावना। इसके लिए मैंने एक त्रिसूत्री कार्यक्रम बताया था। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

१. सभी धर्म-सम्प्रदायो के आचार्य या नेता समय-समय पर परस्पर मिलते रहे। ऐसा होने से अनुयायी वर्ग एक-दूसरे के निकट आ सकता है और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के बीच मैत्री-भाव स्थापित हो सकता है।
२. समस्त धर्मग्रन्थो का तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए। ऐसा होने से धर्म-सम्प्रदायो मे वैचारिक निकटता बढ़ सकती है।
३. समस्त धर्मो से कुछ ऐसे सिद्धान्त तैयार किये जाएं, जो सर्वसम्मत हो। उनमे सम्प्रदायवाद की गन्ध न रहे, ताकि उनका पालन करने में किसी भी सम्प्रदाय के व्यक्ति को कठिनाई न हो।

प्रश्न : क्या सभी जैनाचार्य मिलकर जैन सम्प्रदायो में एकता स्थापित कर सकते है?

उत्तर : यदि सच्ची भावना से कोई कार्य किया जाए तो मैं उसमे असभव जैसा कुछ भी नहीं देखता। जैन सम्प्रदायो की एकता का यह अर्थ लिया जाये कि सारे सम्प्रदाय मिट जाएं तो यह सम्भव नहीं लगता। बहरहाल यदि सभी सम्प्रदायो मे सद्भाव और समन्वय दृष्टि का विकास हो तो यह एकता की ओर वढता कदम ही है। इसी दृष्टि से वहुत वर्षो पहले मैने एक पचसूत्री योजना प्रस्तुत की थी। वह इस प्रकार है—

१. मडनात्मक नीति वरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए, दूसरो पर मौखिक तथा लिखित

आक्षेप न किया जाए।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३. दूसरे सम्प्रदायों और उनके अनुयायियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. कोई सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

५. धर्म के सर्वमान्य तत्त्वों—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

मैं नहीं समझता कि यह कोई असम्भव काम है। मैं इसे नितान्त सम्भव मानता हूं। यह केवल सम्प्रदायों में समन्वय साधने की ही योजना नहीं है, अपितु समस्त धर्म-सम्प्रदायों में सद्भाव साधने की एक महत्त्वपूर्ण योजना है।

प्रश्न : अगर मान लिया जाए कि सारे जैन सम्प्रदाय एक हो जाएं तो फिर किस धर्म-संघ की व्यवस्था होगी?

उत्तर : यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है कि मैं सम्प्रदायों को मिटाने के पक्ष में नहीं हूं। सम्प्रदाय को मिटाना विचार-स्वतन्त्रता का गला घोटना है। सभी सम्प्रदायों को अपनी-अपनी तरह से सोचने और करने की स्वतन्त्रता रहे। उसमें हम हस्तक्षेप न करें, यह भी आवश्यक है। हाथ में पांच अंगुलियां होती हैं। वे सब अलग-अलग होती हैं। बल्कि अंगुलियों और अंगूठे की दिशा सर्वथा भिन्न है। पर यह कोई दोष की बात नहीं है। इस भिन्नता का अपना बहुत बड़ा महत्त्व है। सारी यन्त्र-सभ्यता का विकास इस भिन्नता से ही सम्भव हो सका है। भिन्न-भिन्न होते हुए भी पांचों अंगुलियां हाथ के साथ जुड़ी हुई हैं। इसी प्रकार जैन सम्प्रदाय मौलिक बिन्दुओं से जुड़े रहें, यह आवश्यक है।

प्रश्न : जैनधर्म की विभिन्न मान्यताओं का एकीकरण करके क्या भगवान महावीर के आदर्शों को अधिक व्यापक बनाया जा सकता है? यदि हां, तो सरदार पटेल की तरह क्या आप संगठन के इस

नहीं है, वह साधुचर्या से सम्बन्धित है। साधुचर्या का सम्यक् पालन होता हो तो उसके लिए कहीं भी जाने मे कोई प्रतिबन्ध नहीं है। साधुचर्या का प्रश्न भी केवल साधु से सम्बन्धित है। किसी जैन गृहस्थ या युवक पर उसका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अतीत मे जैन साधुओं ने विदेश यात्रा की है। वे बर्मा, जावा, सुमात्रा और गान्धार देश, जिसे आजकल अफगानिस्तान कहा जाता है, आदि अनेक देशो तक गए थे। अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के आधार पर नेपाल, सिक्किम, भूटान आदि देश भी विदेश की गणना में आते है। इन देशो मे जैन साधु आज भी जाते है।

प्रश्न : क्या जैन विश्वभारती के माध्यम से जैनधर्म की वैज्ञानिकता को जगजाहिर करने की कोई योजना बनी है?

उत्तर : जैन विश्वभारती की गतिविधियो से यह आशा बंधी है कि जैनधर्म को जगजाहिर करने में इस सस्थान की अच्छी भूमिका रह सकती है। जैन विश्वभारती मे इस दृष्टि से मुख्यत· दो काम हो रहे है। पहला काम है—जैन विश्वभारती, मान्य विश्वविद्यालय मे जैनोलॉजी का अध्ययन और रिसर्च। दूसरा काम है अहिसा-प्रशिक्षण की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार का आयोजन। सस्थान द्वारा आयोजित सेमिनार मे जिन लोगो की सभागिता थी, उनमे अनेक व्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न थे। उन लोगों का चिन्तन रहा कि अहिंसा के सिद्धांत को व्यावहारिक बनाने के लिए कोई ऐसी प्रक्रिया अपनाई जाए, जो जन-जीवन को नया मोड दे। इसके लिए कुछ क्षेत्रों को सघन क्षेत्र बनाकर काम करने की अपेक्षा है।

प्रश्न : तीर्थकरो की स्तवना का उद्देश्य व्यक्ति को वीतरागता तक पहुचाना है। पर इस सदर्भ मे स्तुतिपरक साहित्य को देखकर लगता है कि उनके अनुयायियों ने वीतरागता से अधिक दैविक वैभव, चमत्कार एव भौतिक वाह्याडम्बरों को अधिक मूल्यवत्ता दी है। जयाचार्य कृत 'चौवीसी' भी इससे अछूती नहीं रही है। इस संदर्भ

मे आपका क्या चिन्तन है?

उत्तर : वीतरागता जैनधर्म का आदर्श है। वीतराग-वन्दना या स्तव का मूल उद्देश्य वीतरागता की दिशा में अग्रसर होना ही है भावक्रिया के साथ वीतराग शब्द के अर्थ का अनुचिन्तन वीतराग बनने का एक उपाय है। वीतराग के स्तुतिपरक साहि मे दिव्य वैभव, चमत्कार आदि की बात के पीछे दो दृष्टि हो सकती है—वस्तुस्थिति का प्रकाशन करना और वीतराग प्रति आम आदमी मे आकर्षण जगाना। वीतराग दिव्य और योग अतिशयों से सम्पन्न होते है। सब लोग उन अतिशयो को न जानते। उनकी बोधयात्रा विशद बनाने के लिए वीतराग-चरि की विलक्षण बाते बताई जाती है।

मनुष्य भोजन क्यो करता है? भूख मिटाने के लिए । खा पदार्थ कैसा ही हो, भूख मिट जाएगी। फिर भी उसे चेष्टापूर्व सरस बनाया जाता है। सरस और सुरुचिपूर्ण भोजन के प्र सहज आकर्षण रहता हैं। इसी प्रकार वीतराग की स्तुति कि रूप मे की जाए, वह कर्मनिर्जरा का हेतु बनेगी। उसके प्र आम आदमी को आकृष्ट करने के लिए दिव्यता के प्रसग जो जाए तो रचना मे सरसता ही आएगी।

कोरा अध्यात्म रूखा होता है। उसे सरस बनाने के लि भौतिक ऋद्धियो की चर्चा चिन्तनपूर्वक की गई है, ऐसा प्रती होता है। सत्य शिव सुन्दर—ये तीन तत्त्व है। सत्य की खो मनुष्य का लक्ष्य है। शिव कल्याणकारी होता है। इनके सा सौन्दर्य की बात जितनी उपयोगी है, उतनी ही उपयोगित वीतरागता के साथ दैविक सम्पदा की हो सकती है।

प्रश्न : जयाचार्य ने 'चौवीसी' मे गुणोत्कीर्तन को प्रधानता दी है। क्य आप अनुभव करते है कि तत्कालीन प्रचलित परम्पराओ व विभिन्न भक्तिमार्गो का सीधा प्रभाव उन पर पडा है?

उत्तर : गुणोत्कीर्तना प्रमोदभावना है। साधना के क्षेत्र मे मैत्री, प्रमो कारुण्य और माध्यस्थ—ये चार भावनाएं बहुत उपयोगी है

गुणी व्यक्ति के गुणगान करने से निर्जरा होती है। भावो की प्रवलता मे तीर्थकर गोत्र का बंधन भी सभव है। तत्कालीन परम्पराओ या भक्तिमार्गो के प्रभाव को हम सर्वथा अस्वीकार क्यो करे? पर सभावना यही लगती है कि जयाचार्य की इस क्षेत्र मे रुचि थी। गुणोत्कीर्तना की विधा उनके द्वारा सहज स्वीकृत थी।

प्रश्न : जयाचार्य की चौवीसी ठेठ राजस्थानी भाषा मे रचित है। जो आम आदमी के लिए सहज सुबोध्य नहीं है। आज के सास्कृतिक एव भाषायी परिप्रेक्ष्य मे क्या आप स्वय हिन्दी भाषा मे चौबीसी की रचना करने की अपेक्षा अनुभव नहीं करते?

उत्तर : जहा भावना प्रधान होती है, वहा भाषा गौण हो जाती है। कवित्व या वैदुष्य का सम्बन्ध भाषा से नहीं, सृजनशीलता से है। गोस्वामी तुलसीदास की रामायण किस भाषा में है? उसके प्रति जनता का कितना आकर्पण है। भाषा का प्रयोग देश और काल सापेक्ष हो सकता है। पर हमारे धर्मसंघ मे राजस्थानी जितनी व्यवहृत होती है, दूसरी भाषाए नहीं है। मै स्वयं राजस्थानी मे वोलता हूं और लिखता हू।

दूसरी वात—हमारे सघ की यह विधि रही है कि जिस विपय और विधा मे आचार्यो की रचनाए उपलव्ध है, उस विषय और विधा मे नई रचना न की जाए। जयाचार्य ने भगवती की जोड लिखी। भगवती के १५वे शतक में गोशालक का वर्णन है। आचार्य भिक्षु गोशालक पर व्याख्यान लिख चुके थे। जयाचार्य ने उस पूरे शतक को छोड दिया। फिर साधुओ के आग्रह पर १५वे शतक के केवल दोहे लिखे। जोड के अन्य भाग की तरह गीतमय रचना नहीं की।

प्रश्न : जयाचार्य के शासनकाल मे नारी को संघीय दृष्टि से वहुमान देने की परम्परा विकसित होते हुए भी उनकी 'चौवीसी' मे नारी के लिए राखसणी, वैतरणी, पुतली अशुचि दुर्गन्ध की जैसे शव्दो का प्रयोग मिलता है। साधना की भूमिका पर ऐसे शव्दो के

प्रयोगो के पीछे जयाचार्य का क्या अभिप्राय रहा होगा?

उत्तर : चौबीसी मे नारी के लिए जिन विशेषणो का प्रयोग है, वह प्रतीकात्मक शैली का नमूना है। मेरे अभिमत से वहां वासना को नारी मे रूपायित किया गया है।

इसका दूसरा कारण हो सकता है पुरुषों के लिए एक सुरक्षा-कवच का निर्माण। पुरुष महिला के प्रति आकृष्ट होता है, यह उसकी दुर्बलता है। यह दुर्बलता मिटे, उसके मन मे आकर्षण न जागे, इस उद्देश्य से महिला को भयानक या बीभत्स रूप में चित्रित किया गया है।

तीसरा कारण हो सकता है युग का प्रवाह। उस युग मे ऐसे शब्दो या प्रतीको का प्रयोग मान्य रहा होगा। वर्तमान परिवेश मे कोई कवि ऐसे प्रयोग करे तो वह विवादास्पद बन सकता है।

प्रश्न : श्रीमद् जयाचार्य जैन परम्परा के वर्चस्वी आचार्य थे। वीतरागता और आत्मकर्तृत्व के प्रति उनकी गहरी निष्ठा थी। फिर भी अपनी रचना 'चौबीसी' मे उन्होने स्थान-स्थान पर शरणागत शब्द का प्रयोग किया है। साधना के क्षेत्र मे आत्मकर्तृत्व एव शरणागत—दोनो का समन्वय कैसे किया जाये?

उत्तर : आत्मकर्तृत्व और शरणागत मे विरोध कहा है? जैन परम्परा मे अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म—इस चतुर्विध शरण का महत्त्व है। इसमें शरणागत को क्या मिलता है? लेना-देना कुछ है ही नहीं। यह तो आन्तरिक समर्पण और श्रद्धा की अभिव्यक्ति है। आराध्य और आराधक का अद्वैत है। आराध्य के प्रति समर्पण है, सौदा नहीं। 'सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु,' 'आरुग्गबोहिलाभ समाहिवरमुत्तमं दितु' आदि वाक्यो का मत्राक्षर के रूप में स्मरण किया जाता है। यह प्रक्रिया आत्मकर्तृत्व मे कहां बाधक बनती है? समर्पण के अभाव मे होने वाला कर्तृत्व अहकार पैदा कर सकता है। मै सब कुछ कर सकता हूं, फिर मैं किसी की शरण क्यो स्वीकार करूं? यह चिन्तन

अभिमान का सूचक है। इससे जुड़ा हुआ कर्तृत्व जीवन को सवारता नहीं, व्यक्ति को दिग्भ्रान्त बनाता है।

प्रश्न : 'विघन मिटै समरण किया'—जयाचार्य की आस्था का सूत्र है। सार्ध शताब्दी तक इस आस्था से धर्मसघ जुडा हुआ रहा है। जिज्ञासा है कि समय की लम्बी दीर्घा मे क्या धर्मसघ के इतिहास मे चौबीसी की स्तवना द्वारा दैविक उपसर्ग, रोग एव विघ्न-बाधाओ का शमन करने जैसी चामत्कारिक घटनाओ का संग्रहणीय एव उल्लेखनीय प्रेरक सकलन हमारे पास है?

उत्तर : कष्ट की स्थिति मे इष्ट का स्मरण कष्ट का निवारण करता है और मनोबल पुष्ट करता है। 'विघन मिटै समरण किया'—जयाचार्य का यह आस्थासूत्र आज लाखो लोगो का आस्थासूत्र बन चुका है। इस आस्था सूत्र से उनको त्राण भी मिल रहा है। घटनाओ के संकलन का जहां तक प्रश्न है, यह तो रोजाना की बात है। कितने घटना-प्रसग संकलित किए जाएगे? सैकडो घटनाएं सकलित है भी। इस वैज्ञानिक युग मे कुछ लोग ऐसी घटनाओ को अन्धविश्वास कहकर अस्वीकार कर रहे है। करे, पर इससे क्या अन्तर आएगा? वैज्ञानिक रिसर्च पदार्थ पर होती है। आत्मा के बारे मे अब तक भी विज्ञान मौन है। जो लोग आत्मा एवं परमात्मा को मानते है, जिन लोगो की आस्था प्रवल है, वे चौबीसी का स्वाध्याय कर शारीरिक एव मानसिक सक्लेश से मुक्ति का अनुभव करते है। इस अनुभूत सत्य को अस्वीकार कैसे किया जाएगा?

प्रश्न : क्या वर्तमान समस्याओ को समाहित करने के लिए चौवीसी जैसे लघु ग्रन्थ का स्वाध्याय उपयोगी हो सकता है? ऐसे कौन-से आध्यात्मिक तत्त्व इसमे है, जो व्यक्ति को समष्टि के साथ जोड सके और स्वार्थ को परमार्थ की भूमिका तक पहुचाने मे सहयोगी वन सकें।

उत्तर : चौवीसी के गीतो मे ऐसे अनेक तत्त्व है, जो वैयन्तिक, पारिवारिक और सामाजिक समस्याओ को निरस्त कर सकते है। उनमे

सहिष्णुता, समता, एकाग्रता, समर्पण, भेदविज्ञान, अपाय-चिन्तन, इन्द्रिय-विजय, संसार की अनित्यता, प्रमोद भावना आदि तत्त्व उल्लेखनीय है। इन गीतो मे यत्र-तत्र ध्यान तत्त्व की चर्चा बहुत है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो तनाव, असन्तुलन आदि व्यापक स्तर की समस्याओ का समाधान है।

प्रश्न : वर्तमान युग मे विभिन्न वाद्य-यत्रो और फिल्मी धुनो के आकर्षण से बधी युवापीढी पाश्चात्य सस्कृति एवं आधुनिक संगीत की दुनिया मे डूबती जा रही है। ऐसे समय मे 'चौबीसी' अपनी गुणवत्ता एव प्रभावकता कैसे सुरक्षित रख सकेगी? क्या इसके सगान को वाद्ययंत्रो से परिपूरित कर जनता के समक्ष नहीं रखा जा सकता है?

उत्तर : वाद्ययत्रों और फिल्मी धुनो का आकर्षण युवापीढी को कहा ले जा रहा है, सब जानते है। फिल्मी गीतो मे आई अश्लीलता सांस्कृतिक अस्मिता के लिए खतरा है। सगीत और रचना की गुणवत्ता से परिचित लोगों के बीच चौबीसी की गुणवत्ता और प्रभावकता को कभी खतरा नहीं हो सकता।

यात्रिक उपकरणो का प्रयोग का जहा तक प्रश्न है, मेरी समझ मे ये गीत इतने सुन्दर हैं कि इनके लिए अधिक साजबाज की अपेक्षा नहीं है। गले को सहारा देने के लिए साधारण यत्र का उपयोग एक सीमा तक स्वीकृत हो सकता है।

प्रश्न : सार्द्ध शताब्दी बीत जाने के बाद जयाचार्य द्वारा रचित 'चौबीसी' (तीर्थकर स्तवना) को सार्वजनीन व्यापकता देने की बात आपके मानस मे क्यों उभरी?

उत्तर : चौबीसी तेरापथ समाज मे काफी व्यापक रही है। मैने अपने युग मे इसको जन-जन के मुह पर थिरकते हुए देखा है। इसकी सहज-सरल रचनाशैली, भक्तिप्रवणता, रागो की रोचकता, शब्द सरचना का सौष्ठव, तात्त्विक विवेचन आदि बातो ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। मै जब-जब इसका सगान करता हूं, आत्मविभोर हो जाता हूं। व्याख्यान मे चौबीसी के गीत गाता हू तो श्रोता

तन्मय हो जाते है। मैने ऐसा अनुभव किया कि चौबीसी के गभीर अध्ययन और स्वाध्याय से अनेक लोग बहुश्रुत बन सकते है। इसी उद्देश्य से चौबीसी को सार्वजनीन व्यापकता देने का चिन्तन किया। 'सार्द्ध शताब्दी' एक निमित्त बनी। इससे ध्यान केन्द्रित हो गया।

प्रश्न : चौबीसी आपके पूर्वज आचार्य की कृति है। क्या इसीलिए आप इसको इतना महत्त्व देते हैं या अन्य किसी कारण से? सुना जाता है कि आनन्दघनजी की 'चौबीसी' अध्यात्मरस से ओतप्रोत है। दोनो के संबध मे आपका क्या विचार है?

उत्तर : जयाचार्य हमारे पूर्वज आचार्य है। चौबीसी उनकी कृति है। इस कारण इसके प्रति मन मे आकर्षण है। पर यही एकमात्र कारण नहीं है। जयाचार्य की और भी अनेक कृतियां है। प्रत्येक कृति एक-एक से बढ़कर है। फिर भी चौबीसी जितनी लोकप्रियता उन्हे नहीं मिल पाई है। मेरी दृष्टि से इसमे श्रद्धा-भक्ति की प्रधानता और इसके संगान से होने वाली तन्मयता इसकी सबसे बडी गुणवत्ता है।

आनन्दघनजी आध्यात्मिक पुरुष थे। उनकी चौबीसी मे अध्यात्म की गहराई है, यह बात सही है। पर उतनी गहराई में हर कोई उतर नहीं सकता। उसे समझना ही टेढी खीर है। मै उसे किसी दृष्टि से कम नहीं मानता। दोनों ग्रन्थो की तुलना हम क्यो करे? दोनो का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। जयाचार्य की चौबीसी में जो सहज सरलता या सादगी है वह किसी भी भावुक व्यक्ति को बहुत जल्दी प्रभावित कर सकती है।

प्रश्न : आपने 'चौबीसी' विशेषांक के लिए 'जैन भारती' मासिक पत्रिका को चुना। 'जैन भारती' का पूरा परिवार इससे हर्षोत्फुल्ल है। हम जानना चाहेंगे कि आप इस विशेषाक के माध्यम से 'चौबीसी' के कौन-से पक्ष को लोकजीवन में उजागर देखना चाहते है?

उत्तर : चौबीसी के किसी एक पक्ष विशेष को उजागर करना मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं चाहता हूं कि इसको समग्रता से पढा जाए और

इसके प्रत्यके तत्त्व को गभीरता से समझा जाए। 'जैन भारती' हमारे धर्मसघ की पत्रिका है। इसने जैन पत्रिकाओ मे गरिमापूर्ण स्थान बनाया है। मै चाहता हूं कि यह और अधिक ऊंचाई तक पहुंचे, इसके लिए नए-नए आयाम खोलने आवश्यक है।

अणुव्रत

प्रश्न : अणुव्रत क्या है?

उत्तर : अणु का अर्थ है 'छोटा' और व्रत का अर्थ है 'नियम'। अणुव्रत अर्थात् छोटे-छोटे व्रत। यह जैन आगमो का शब्द है और जैन-साहित्य मे इसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। अणुव्रती वह है, जो छोटे-छोटे नियमो का पालन करता है और अच्छा जीवन जीता है। मैने अणुव्रत आन्दोलन प्रवर्तन वि. स. २००५ मे किया था। आज यह भारत का बहुत बडा नैतिक आन्दोलन बन गया है।

प्रश्न : अणुव्रत आन्दोलन का मूल उद्देश्य क्या है? क्या आप आन्दोलन की उपलब्धि के बारे में कुछ ठोस बाते बता सकते है?

उत्तर : अणुव्रत का मूल उद्देश्य है—मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनाना। उसे नैतिक और प्रामाणिक जीवन जीने का प्रशिक्षण देना। यह एक शुद्ध नैतिक आन्दोलन है और भारत का एकमात्र आन्दोलन है। यह जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, लिग, रग आदि भेदभावो से ऊपर उठकर मनुष्य-मात्र को आत्मसंयम की ओर प्रेरित करता है। इसकी उपलब्धियो का कोई लेखा-जोखा हमारे पास नहीं है। फिर भी यह बात सही है कि इसने हजारो-हजारों लोगो के जीवन को बदला है। हजारो व्यक्ति व्यसनमुक्त और रूढिमुक्त हुए है। छुआछूत की भावना समाप्त हुई है। राजस्थान के महिला-समाज का तो इसने कायाकल्प ही कर दिया है। एक विधवा बहन को जिस प्रकार की मानसिक यत्रणा भोगनी पडती थी, उसकी इतिश्री हो गई। काले वस्त्र पहनना, महीनों-वर्षो तक कोने मे बैठे रहना, उसे अमगल मानना आदि अनेक कुप्रथाएं समाप्त हो गई और पूरे समाज मे नई चेतना का सचार हो रहा है।

प्रश्न : आपने अणुव्रत आन्दोलन शुरू करने की जरूरत क्यो महसूस

की? क्या पहले से आ रहे अहिंसा आदि पांच सूत्र ही काफी नहीं थे?

उत्तर : राजनीतिक दासता से स्वतंत्र भारत को वास्तविक स्वतंत्रता का बोध कराने के लिए और उस स्थिति तक पहुंचने की तड़प जगाने के लिए अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया गया। अणुव्रत का एकमात्र लक्ष्य है समाज मे नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा कर मनुष्य को उनके प्रति आस्थावान् बनाना। इसके लिए समाज में व्याप्त बुराइयो के विरोध में एक सशक्त आवाज उठाने की जरूरत थी। वैसे अच्छाई और बुराई दोनों शाश्वत है। हर युग मे इनका अस्तित्व रहा है। कोई भी युग इतना समुज्ज्वल नहीं है, जिसमे बुराई की छाया न पड़ी हो। बुराई की निरन्तर उपस्थिति के बावजूद उसके स्वरूप मे अलबत्ता थोडा अन्तर आता रहता है। प्राचीन समय मे बुराई का जो रूप था, आज वह दूसरे रूप में है। उसका प्रतिकार करने के लिए प्राचीन दवा का व्यापक और शीघ्र प्रभाव नहीं होता। इसलिए प्रतिकारक उपायो मे परिवर्तन किया जाता है। हर युग की भाषा, सोच-विचार का तरीका और जनमानस भी भिन्न-भिन्न होता है। इस स्थिति में एक ही बटखरे से सबको कैसे तोला जा सकता है?

अहिंसा, सत्य आदि पांच सूत्रो की पर्याप्तता का जो प्रश्न है, मै समझता हूं कि अणुव्रत मे इन पांचो से हटकर है ही क्या? अणुव्रत के जितने नियम है, उनका मौलिक आधार तो ये पांच सूत्र ही हैं। व्रतो के विस्तार और भाषा-परिवर्तन के लिए जो स्थितियां निमित्त बनीं, उनमें कुछ ये है :

- धार्मिकता का झूठा व्यामोह।
- केवल उपासना, क्रियाकाण्डों और रूढ परम्पराओ का महत्त्व।
- चरित्र और नैतिक मूल्यो की विस्मृति।
- धार्मिक असहिष्णुता।
- आचार-भ्रष्टता।
- जन-जीवन मे व्यसनों का तीव्रगामी प्रभाव।

• अस्पृश्यता जैसी अमानवीय भावनाओ का उदय।

ऐसी स्थितियों को बदलने के लिए मानवीय मूल्यो को शक्ति के साथ प्रस्थापित करने की अपेक्षा थी। इस अपेक्षा की पूर्ति तब तक नहीं होगी, जब तक उन मूल्यो की नये परिवेश मे प्रस्तुति न हो। इन सब बातों को ध्यान मे रखकर मैने अनुभव किया कि कुछ ऐसे मूल्य जनता के सामने रखने चाहिए, जो सर्वधर्म-सम्मत हो। किसी भी धर्म को जिनमे आपत्ति न हो, ऐसे मूल्य ही राष्ट्रव्यापी काम कर सकते है। मेरे अभिमत से अणुव्रत की आचार-संहिता सर्वधर्म-सम्मत है, उसकी प्रस्तुति युगीन परिवेश मे है और वह लम्बे समय से चली आ रही धार्मिक जडता को तोडने मे सक्षम है।

प्रश्न : नैतिक मूल्यो की पुन. स्थापना के लिए क्या किसी धार्मिक आन्दोलन की भी जरूरत है? उसका स्वरूप कैसा हो?

उत्तर : नैतिक मूल्यो की स्थापना के लिए नैतिक आन्दोलन की ही जरूरत है। वैसे नैतिक और धार्मिक आन्दोलन का अस्तित्व भिन्न नहीं हो सकता। जिसमें सम्प्रदाय, क्रियाकाण्ड, उपासना आदि तत्त्वो की प्रधानता न रहे, वह आन्दोलन ही नैतिक या धार्मिक बन सकता है। उसकी आचार-सहिता के लिए अणुव्रत एक आदर्श हो सकता है। चरित्र-निर्माण की दृष्टि से हम इस आन्दोलन को आगे बढ़ा रहे है। चरित्र-निर्माण के सूत्रों को आत्मसात् करने के लिए प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया को गतिशील बना रहे है। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों के योग से नैतिक मूल्यो की पुन स्थापना हो सकती है।

प्रश्न : जन सामान्य के लिए आपके पास अणुव्रत की क्या योजनाएं है?

उत्तर : अणुव्रत पूरी तरह से जन सामान्य के लिए ही है। जाति, सम्प्रदाय, रंग, लिग आदि सब भेदो से ऊपर अ से ह तक किसी भी श्रेणी का व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। अणुव्रत आचार-संहिता की सभी धाराएं युगीन समस्याओं को ध्यान में रखकर निर्धारित की गई हैं। कुछ धाराए ऐसी हैं, जो अनिवार्य रूप से सबके

लिए ग्राह्य है। जैसे—

- निरपराध की हत्या नहीं करना।
- तोडफोडमूलक प्रवृत्तियो मे भाग नहीं लेना।
- साम्प्रदायिक अभिनिवेश और उन्माद से दूर रहना।
- जातिवाद से दूर रहना, किसी को अस्पृश्य नहीं मानना।
- व्यसन-मुक्त जीवन जीना।
- मादक व नशीली चीजो का परिहार करना।

जनसामान्य इन नियमों को स्वीकार कर अपना आचरण बदल ले तो एक बडा काम हो सकता है। इसी दृष्टि से हम पदयात्रा करके गांव-गांव मे जाते हैं। आम लोगों से सीधा सम्पर्क साधते है और उन्हे अणुव्रत के साथ जोडत्ते है।

प्रश्न : अणुव्रत के माध्यम से आप किन लक्ष्यो को पूरा करना चाहते है? इस मिशन में आपको कितनी सफलता मिली?

उत्तर : अणुव्रत आन्दोलन की परिकल्पना करते समय हमारे सामने लक्ष्य था मनुष्य के चरित्र का निर्माण। न तो हम मनुष्य को देव वनाना चाहत्ते थे और न राक्षस देखना चाहते थे। इसके साथ ही एक असाम्प्रदायिक धर्म की मिशाल प्रस्तुत करना भी हमारा उद्देश्य था। नैतिकता और असाम्प्रदायिकता का लक्ष्य सामने रखकर हमने इसकी आचार-संहिता का निर्धारण किया। सिद्धातत सभी वर्गो के लोग इसकी उपयोगिता की वात स्वीकार कर रहे है। आचरण के स्तर पर भी इसने लोकजीवन को प्रभावित्त किया है। किन्तु उसका अनुपात कम है। प्रसन्नता का विषय यह है कि धार्मिक आस्थाओ को अस्वीकार करने वाले व्यक्तियो ने भी अणुव्रत की व्याख्या सुनकर स्वय को धार्मिक मानना स्वीकार कर लिया।

इस मिशन की सफलता-असफलता को हम आकडो मे प्रस्तुत करना नहीं चाहते। क्योकि यह भावनात्मक कार्यक्रम है, जोड़-वाकी का गणित नहीं है। अणुव्रत के माध्यम से हमारी पहचान व्यापक वनी है। लोग अनुभव कर रहे है कि हमारे

पास एक लोक-कल्याणकारी उपक्रम है। हमारे साधु-साध्वियां, अणुव्रत-समितिया और अणुव्रती कार्यकर्ता इस काम मे निरन्तर जुटे हुए है। पूरे देश मे नेटवर्क के रूप मे एक कार्यक्रम चल रहा है। ऐसी स्थिति मे असफलता की तो हम स्वप्न मे भी कल्पना नहीं करते। सफलता के ग्राफ ऊपर-नीचे होते रहते हैं। सतोष की बात यह है कि पांचवें दशक के अन्तिम चरण मे पहुचकर भी अणुव्रत अपने लक्ष्य के अभिमुख है।

प्रश्न : अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय वर्तमान युग की प्रबल अपेक्षा है। अणुव्रत अध्यात्म के हिमालय से प्रवाहित एक स्रोत है। क्या उसकी कोई वैज्ञानिक पृष्ठभूमि भी है?

उत्तर : अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का एक छोटा-सा उदाहरण ही अणुव्रत है। भगवान महावीर महान वैज्ञानिक थे। उन्होने प्रयोगशाला मे बैठकर कोई प्रयोग भले ही नहीं किया हो, पर उनके अनुभव की प्रयोगशाला बहुत बडी और बहुत समृद्ध थी। उन्होने जड और चेतन—दोनो तत्त्वो पर बहुत काम किया। पुद्गल और जीव के बारे में उन्होने जितनी सूक्ष्म और विशद अवधारणाएं दीं, कोई भी वैज्ञानिक अब तक भी वहां नहीं पहुंच पाया है। पुद्गल के अतिम अविभागी अंश परमाणु के बारे में विज्ञान अब भी मौन है। आत्मा तो उसके यत्रों का विषय बन ही नहीं सकती।

व्रत अपने आप मे एक वैज्ञानिक अवधारगा है। व्रत का अर्थ है सयम। भौतिकवादी मनोवृत्ति सयम की बात स्वीकार नहीं करती। समस्या का उत्स यही है। क्योकि पदार्थो की सीमा है और इच्छाए असीमित है। ससीम और असीम की टकराहट के बीच भोगोपभोग की सीमा का सिद्धांत एक वैज्ञानिक सचाई से साक्षात्कार कराता है। पर्यावरण की सुरक्षा के लिए विज्ञान के स्वर अब मुखर हुए हैं, जबकि भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले ही पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के संयम का सूत्र दे दिया था। एक दृष्टि से हम अध्यात्म और विज्ञान को विभक्त

कर ही नहीं सकते। विज्ञान नियमो के आधार पर चलता है। अध्यात्म के भी अपने नियम है। विज्ञान ने पदार्थ के नियम खोजे है और अध्यात्म ने चेतना के नियम खोजे हैं। दोनों की खोज अब भी जारी है।

अणुव्रत कोई काल्पनिक तत्त्व नहीं है। भगवान महावीर ने धर्म के वर्गीकरण में अणुव्रत शब्द का प्रयोग किया। हमने वहीं से इस शब्द को ग्रहण किया है। इसकी अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे ही इसकी वैज्ञानिकता को समझा जा सकता है। विज्ञान का सम्बन्ध केवल लेबोरेटरी में होने वाले प्रयोगो से ही है तो हमे वह स्वीकार करने में भी संकोच नहीं है कि अणुव्रत की ऐसी कोई प्रयोगशाला नहीं है। इसकी एक मात्र प्रयोगशाला है मनुष्य का जीवन।

प्रश्न : राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अणुव्रत मानव धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो रहा है। उसकी यह प्रतिष्ठा वैचारिक स्तर पर अधिक है। क्या उसे व्यावहारिक रूप में प्रतिष्ठित करने की भी कोई योजना है?

उत्तर : कोई भी आंदोलन वैचारिक रूप मे सक्षम होने के बाद ही व्यवहार में उतरता है। आचार-शास्त्र के मीमांसको ने इस तथ्य पर वल दिया है कि व्यवहार मे आने से पहले आचार को विचारो की धरती पर अकुरित किया जाए। वैचारिक पृष्ठभूमि के विना आचार के पथ पर बढ़े हुए व्यक्ति भी फिसल सकते हैं। वैचारिक धरातल ठोस हो जाए तो फिसलन की संभावनाएं कम हो जाती हैं। इस दृष्टि से किसी भी कार्यक्रम को लागू करने से पहले वैचारिक धरातल को ठोस करने की अपेक्षा है। विचार पक्ष सही होता है तो किसी भी उपयुक्त समय में उसे प्रायोगिक वनाया जा सकता है।

यह सच है कि अणुव्रत का विचार-पक्ष वहुत पुष्ट और व्यापक वना है। इसी कारण अणुव्रत आन्दोलन जीवित है। इसके समकक्ष और समकालीन व्यवहारशुद्धि, सर्वोदय, मोरल रिआर्मामेंट

आदि आन्दोलनो की आज कहीं कोई चर्चा भी नही है, जबकि अणुव्रत के स्वर अब तक बुलन्दी पर है। यह चिन्तन भी उचित है कि अब इसे व्यवहार के साचे में ढालना चाहिए। किन्तु किसी भी विचार को व्यवहार मे ढालना कठिन है, इस बात को सव जानते है। कोई विचार शत-प्रतिशत व्यावहारिक बन जाए, यह संभव भी नहीं है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि विचार आकाशीय उड़ान भरे और आचार पाताल मे ही दबा रह जाए।

तीर्थकरों ने अहिसा का दर्शन दिया। बहुत दृढता और स्पष्टता से अहिसा के सिद्धात का प्रतिपादन किया। फिर भी हिसा का अस्तित्व ज्यो का त्यो है। हिसा की सत्ता को चुनौती नहीं दी जा सकती। पर मनुष्य की हिसक मनोवृत्ति मे थोडी भी दुर्बलता आती है तो अहिसा के प्रयोग की सफलता है। आज की मानसिकता मे नि शस्त्रीकरण, शस्त्रपरिसीमन और युद्ध को टालने जैसा मनोभाव अहिसा की व्यावहारिक फलश्रुति नहीं है तो क्या है?

अणुव्रत के क्षेत्र मे कोई प्रयोग नहीं हो रहा है, ऐसी बात भी नहीं है। अणुव्रत-प्रशिक्षण-शिविरो मे अणुव्रत-दर्शन को जीवनस्पर्शी बनाने का प्रशिक्षण बराबर दिया जा रहा है। अणुव्रत-आचारसहिता केवल उपदेश की वस्तु बनकर न रह जाए, इसी दृष्टि से प्रेक्षाध्यान पद्धति का आविर्भाव हुआ। जीवनविज्ञान का भी यही उद्देश्य है। सन् १९९० के वर्ष को 'अणुव्रत वर्ष' के रूप मे मनाने के पीछे भी यही दृष्टिकोण रहा है। अणुव्रत का वैचारिक पक्ष पूर्ण रूप से व्यावहारिक बन जाएगा, यह अतिकल्पना है। उसे जितना व्यावहारिक बनाया जा सकता है, उसके लिए प्रयास जारी है।

प्रश्न : जिस लक्ष्य और आशा से अणुव्रत का प्रसार किया गया, उसकी फलश्रुति उतनी आशास्पद नहीं लग रही है। क्योंकि भ्रष्टाचार कम होने के स्थान पर बढता ही जा रहा है। ऐसी स्थिति में क्या यह माना जा सकता है कि आपके परिश्रम का यथेष्ट

परिणाम नही आया?

उत्तर : अणुव्रत के तीन लक्ष्य है–

१. जाति, वर्ण, सप्रदाय, देश और भाषा का भेदभाव न रखते हुए मनुष्य मात्र को आत्म-सयम की ओर प्रेरित करना।

२. मैत्री, एकता, शान्ति और नैतिक मूल्यो की स्थापना करना।

३. शोषणविहीन और स्वतन्त्र समाज की रचना।

उपर्युक्त लक्ष्यत्रयी को ध्यान मे रखकर अणुव्रत अपना काम कर रहा है और कुछ नयी सभावनाओं के साथ करता रहेगा। देश मे परिव्याप्त भ्रष्टाचार को समग्रता से समाप्त करने का दावा न तो अणुव्रत ने किया है और न वह ऐसा करने की स्थिति मे है। जो व्यक्ति निष्ठा से अणुव्रती बने है वे भ्रष्टता से दूर रहकर प्रामाणिक जीवन जी रहे है। पर अभी तक ऐसे व्यक्तियो की संख्या कम है। समुद्र मे एक बूंद की भाति अन्तहीन भ्रष्टाचार के बीच कौधते हुए नैतिक प्रतीको का प्रभाव एक सीमा तक ही सामज को लाभान्वित कर पाएगा। वैयक्तिक आचार का जहा तक प्रश्न है, अणुव्रती बनने वाले उसके प्रति सजग है। वे अपनी नैतिकता के कारण भ्रष्टाचार की गिरफ्त से मुक्त है। उनके परिवार और समाज मे भी उनका प्रभाव है। किन्तु उनकी नैतिकता विश्व-व्यवस्था को प्रभावित तभी कर सकेगी जब संसार के अधिकाश व्यक्ति अणुव्रतो के आदर्शो पर चलने के लिए सकल्पवद्ध होगे।

परिश्रम के परिणाम की जो वात है, मै उससे निराश नही हू। हमारे परिश्रम की सवसे वडी सार्थकता यह है कि उसमे हमे आत्मतोप मिलता है। परिणाम की आकांक्षा व्यक्तियो को निराश वना देती है। मुझे विश्वास है कि हमारा परिश्रम सुफल ला रहा है और भविष्य मे भी उसका परिणाम सुखद होगा। यथेष्ट की चिंता छोडकर हमें नैतिक मूल्यो को प्रोत्साहन देना है। अणुव्रत आचार-संहिता को पालन करने वाला व्यक्ति, समाज और देश ही भ्रष्टाचार-मुक्त समाज-रचना की परिकल्पना को

साकार रूप देगा, यह असंदिग्ध तथ्य है। अणुव्रत के लक्ष्य से सबंधित तीन केन्द्र बिन्दुओ मे प्रथम दो बिन्दुओ का विस्तार स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो रहा है। शोषणविहीन और स्वस्थ समाज-रचना का सपना भी फलित हो सकेगा। अपेक्षा इतनी-सी है कि इसके लिए युवापीढ़ी गहरी निष्ठा के साथ काम करे।

प्रश्न : कुछ लोग कहते है कि अणुव्रत के सिद्धान्त व्यवहार से बहुत दूर हैं, इस पर आप क्या सोचते हैं? क्या आप अनुभव करते हैं कि उसने समाज पर वांछित प्रभाव डाला है? यदि नहीं तो उसे प्रभावी बनाने के लिए आप क्या उपाय करना चाहेगे?

उत्तर : अणुव्रत के सब सिद्धान्त व्यवहार मे आ जाएं तो फिर आन्दोलन को जारी रखने की अपेक्षा ही नहीं रहती। भारतीय जनता की सबसे बड़ी कठिनाई है—आचार और व्यवहार की विसंगति। उसके आदर्श आकाश को छू रहे हैं, किन्तु व्यवहार पाताल मे ही टिके है। उसकी कथनी और करनी मे स्पष्ट असमानता है। उसके जीवन-दर्पण पर आदर्शो का प्रतिबिम्ब साफ और पूर्ण नहीं है, यह किसी से अज्ञात नहीं है।

मेरे सतोष का जहा तक प्रश्न है, मै किसी भी काम से झटपट असतुष्ट नहीं होता। अणुव्रत के सदर्भ मे हमने जो कुछ काम किया, अपना कर्तव्य समझकर किया और आज भी कर रहे है। ससार की सब बुराइयां समाप्त करने की कल्पना हमने न तो पहले ही की थी और न अब ही ऐसी कोई कल्पना हमारे सामने है। अणुव्रत के माध्यम से हमने जो कुछ करना चाहा था, उसके परिणाम शून्य मे नहीं है; नैतिक मूल्यो के सन्दर्भ मे वैचारिक क्रान्ति की दृष्टि से एक वातावरण बना है। भारतीय जनता के मन और मस्तिष्क से नैतिकता के नाम का लोप हो रहा था, आज वह पुन: जीवन्त हो उठा है।

अब रही बात लोकजीवन मे उसके वांछित प्रभाव की। उसका सबंध जनता के आचरण पक्ष से है। इसमे जिस सीमा तक व्यक्तिश: परिवर्तन होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया है।

ऐसा न होने का कारण केवल व्यक्ति की दुर्बलता ही नहीं है, राजनैतिक, सामाजिक और वैधानिक परिस्थितियां भी इसमे एक विशेष भूमिका निभा रही है। सामाजिक मानदण्ड और मूल्यो का ह्रास भी एक बडा कारण है। इन सबके पीछे काम कर रहा है मनुष्य का अर्थप्रधान दृष्टिकोण। संसार के अन्य भागो की स्थितियां भी रेडियो, टी. वी. आदि माध्यमो से अवगत होती रहती है। ये सब ऐसे कारण हैं, जो किसी भी नैतिक आन्दोलन द्वारा लोकचेतना को प्रभावित करने की दिशा मे बड़ी बाधाएं हैं।

आन्दोलन को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए सभी धर्म-प्रचारकों और समाजसेवी संस्थाओ के कार्यकर्ताओं के साथ मिल-जुलकर काम करने की अपेक्षा है। विभक्त कामो में शक्ति और समय अधिक लगता है, परिणाम कम आता है। काम भी युद्धस्तर पर होना जरूरी है। इसके लिए सामूहिक संगोष्ठियो के साथ-साथ व्यक्तिश· संपर्क, तदनुरूप साहित्य के सृजन और सामाजिक मानकों को उन्नत करने की अपेक्षा है।

प्रश्न : आर्थिक असदाचार के युग मे आम आदमी अणुव्रत की आचारसंहिता को स्वीकार करने मे कठिनाई का अनुभव करता है। क्या इस सन्दर्भ में अणुव्रत के पास कोई व्यावहारिक रास्ता है?

उत्तर . जो लोग कठिनाई का अनुभव करते है, उन्होने अणुव्रत की आचारसंहिता को गहराई से समझने का प्रयास नहीं किया। प्रत्येक व्रत को उसके सही परिप्रेक्ष्य मे समझा जाए तो यह कठिनाई समाप्त हो सकती है। हम जानते हैं कि आज की परिस्थितियो में कठोर व्रतो को लेकर चलना सीधा काम नहीं है। इस दृष्टि से आचारसहिता के निर्धारण मे पूरा ध्यान दिया गया है। उदाहरण के रूप मे रिश्वत लेना और देना—दोनो अपराध है, आर्थिक असदाचार हैं। किन्तु वर्तमान युग मे रिश्वत लेना जितना सरल है, न देना उतना ही कठिन है। इसलिए अणुव्रत की सीमा है—'रिश्वत नहीं लूगा।' रिश्वत देना नैतिकता नहीं है। फिर भी इसे अणुव्रत की प्रथम भूमिका मे निपिद्ध नहीं माना गया। क्योंकि

आम आदमी ऐसा किए बिना सुविधा से जी नहीं सकता। यही बात प्रामाणिकता की है। उसकी भी अपनी सीमा है। अणुव्रत के वर्गीय नियमो से उस सीमा का बोध किया जा सकता है।

कुछ कानून भी ऐसे हैं, जो व्यक्ति को आर्थिक असदाचार की दिशा में धकेलते है। टैक्सो को लेकर लोग ऐसी ही समस्या का अनुभव करते है। अणुव्रत ने प्राथमिक रूप मे इस क्षेत्र मे भी कोई दखलन्दाजी नहीं की। वास्तव मे अणुव्रत किसी ऐसे आदर्श की बात नहीं करता, जिस पर कोई आदमी चल ही न सके। कठिनाई का जहां तक प्रश्न है, कुछ तो त्याग करना ही होगा। जीवन मे कठिनाई आए ही नहीं तो व्रती बनने और न बनने मे अन्तर क्या रहेगा? जिस युग मे ऐसी कोई कठिनाई नहीं होगी, उस युग मे अणुव्रती बनने का अर्थ ही क्या होगा? मुझे ऐसा लगता है कि व्रत-पालन मे आने वाली कठिनाइयों से भी अधिक कठिनाई मानसिक दुर्बलता की है। मनोबल प्रबल हो तो अणुव्रत का मार्ग सीधा राजमार्ग प्रतीत हो सकता है।

प्रश्न : क्या कोई भी व्यक्ति पूर्ण जीवन जी सकता है? यदि यह बात संभव है तो उसकी प्रक्रिया क्या है?

उत्तर : शायद आप यह सवाल सामाजिक व्यक्ति के बारे मे पूछ रहे है। समाज में रहने वाला व्यक्ति अगर अणुव्रती जीवन जीए तो वह अपने आप में पूर्ण जीवन हो सकता है। अणुव्रती जीवन दो अतियो के बीच का जीवन है। एक ओर अध्यात्म की पराकाष्ठा—संपूर्ण अहिसा और सपूर्ण अपरिग्रह का जीवन। दूसरी ओर भोगवाद की पराकाष्ठा—बिना प्रयोजन हिसा और आवश्यकता से अधिक सग्रह। प्रथम कोटि का जीवन निश्चय ही सब लोग जी नहीं सकते। दूसरी कोटि का जीवन किसी के लिए भी काम्य नहीं हो सकता। अणुव्रती न तो पूर्ण रूप से अहिसक होता है और न क्रूर हत्यारा। सद्गृहस्थ का जैसा जीवन होना चाहिए, वैसे आदर्श जीवन का मॉडल होता है अणुव्रती जीवन। ऐसा जीवन जीया जा सकता है और यह सबके लिए अच्छा है।

प्रश्न : इस कमरतोड महगाई के समय मे कोई व्यक्ति नैतिकता एव प्रामाणिकता से जीवनयापन करना चाहे तो क्या वह उसके लिए संभव हो सकता है? किसी व्यक्ति को नैतिकता या प्रामाणिकता पर टिके रहने के लिए अणुव्रत उसे किस प्रकार सहयोग दे सकता है?

उत्तर : नैतिकता और प्रामाणिकता समय एवं परिस्थिति से सापेक्ष नही होती। वास्तंव में तो प्रतिकूल समय और विषम परिस्थिति ही प्रामाणिक जीवन की सही कसौटी है। कठिन समय में नैतिक व्यक्ति की आस्था डावाडोल हो जाए तो उसकी नैतिकता और दृढता का मूल्य ही क्या है?

कुछ व्यक्ति सिद्धान्तत नैतिक मूल्यों मे गहरी आस्था रखते है किन्तु विशेष परिस्थितियो मे विवशता का अनुभव करते है। ससार मे अधिक व्यक्ति इसी श्रेणी मे आते हैं। उनका आदर्श और लक्ष्य ऊचा होता है पर दुर्वलता के कारण उनकी पहुच वहा तक नहीं होती। ऐसे व्यक्ति यथासंभव प्रामाणिक जीवन जीते है।

नैतिकता के संदर्भ मे मै एक वात और स्पष्ट करना चाहता हूं कि नैतिकता का मानदण्ड या कसौटी कानून नहीं है। कानून स्वयं विवशता उत्पन्न करता है। मूलत व्यक्ति की मनोवृत्ति अनैतिकतामूलक नही होनी चाहिए।

नैतिक आस्था वाले व्यक्ति को किसी विशेष प्रकार की मुसीवत से गुजरना पडे, उस समय नैतिक संस्थानों का यह पुनीत दायित्व है कि वे उस व्यक्ति को संभाले, उसकी आस्था को सुदृढ वनाए, बाधाओ से उवरने के उपाय वताए और उचित मार्गदर्शन देकर उसे यह अनुभव कराए कि जीवन की इस यात्रा मे वह अकेला नहीं है।

हर नीतिनिष्ठ व्यक्ति और सस्था के लिए यह महत्त्वपूर्ण काम है कि वह किसी भी परिस्थिति में व्यक्ति की आस्था को न डिगने दे। आस्था सुदृढ है तो परिस्थितियां के झोके कुछ

भी नहीं कर सकते।

प्रश्न : अणुव्रत के माध्यम से आप शोषण-मुक्त और स्वतन्त्र समाज की रचना करना चाहते हैं। क्या अब तक के इतिहास मे इस प्रकार की समाज-रचना का कोई उदाहरण मिलता है? यदि नहीं तो क्या यह अतिकल्पना नहीं होगी? यदि वास्तव मे यह अति कल्पना है तो इसे अणुव्रत का आदर्श कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि आपके शब्दों मे आदर्श वह नहीं होता जो कभी प्राप्त नहीं किया जा सके और आदर्श वह भी नहीं होता जो सबके लिए संभव हो सके।

उत्तर : शोषण-मुक्त और स्वतन्त्र समाज की सरचना मेरा चिरपालित स्वप्न है। इसे साकार करने के लिए मै प्रयत्नशील हूं। पर मेरा दावा यह नहीं है कि समग्र विश्व इस रूप में ढल जाएगा। अतीत के इतिहास की खोज का काम अनुसन्धाताओं पर छोड दिया जाए और वर्तमान का नया इतिहास बनाया जाए, यह आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि अतीत मे जो नहीं हुआ वह भविष्य मे कभी होगा ही नहीं, इसे मैं अनुत्साही और निराशावादी मनोवृत्ति का प्रतीक मानता हूं। आज तक जो नहीं हुआ, वह आज हो सकता है। यदि उसके पीछे तीव्र प्रयत्न और गहरी लगन हो। स्वतन्त्र समाज का अर्थ विदेशी दासता से मुक्त होना ही नहीं है। स्व यानी अपना, तन्त्र यानी शासन। जहां आत्मानुशासन का विकास हो, कानून से नहीं किन्तु स्वेच्छा से शोषण की वृत्ति छोडी जाती हो, वह समाज स्वतन्त्र समाज है।

आदर्श का जहां तक प्रश्न है वह सर्वप्राप्य और सर्वथा अप्राप्य नहीं हो सकता। मुझे आज भी दृढ विश्वास है कि शोषण-मुक्त और स्वतन्त्र समाज बन सकता है। किन्तु यह तभी होगा जब उस समाज के अधिकाश व्यक्तियों के मन मे शोषण और वृत्तियों की दासता के विरोध मे भावना प्रबल होगी। अणुव्रत विचारधारा के माध्यम से ऐसे समाज के अनुकूल वातावरण का निर्माण हो रहा है। प्रारम्भिक रूप से एक-दो वर्गो मे ही यह

कोई कारण ऐसा है, जिसके रहते समाज उन्हें उचित सम्मान नहीं दे पाया अथवा कार्यकर्ता अपने आपको समाजोपयोगी रूप मे प्रमाणित नही कर पाये। कुछ दूसरे आन्दोलनो से सबंधित कार्यकर्ता जितने निश्चिंत हैं, उतनी निश्चिन्तता अणुव्रत के कार्यकर्ताओ को नहीं मिल सकी। अणुव्रत की भावी दिशा ऐसे निष्ठाशील और समर्पित कार्यकर्त्ताओ का निर्माण तो है ही, इसके साथ जन-जन मे नैतिक संस्कारों के प्रति आस्था जगाना और तदनुरूप प्रयोग कराना भी उसकी योजनाओ का एक अग है।

कार्यकर्ताओं को तैयार करने के लिए पहली अपेक्षा यह है कि समाज उन्हे हीन दृष्टि से न देखे और वे अपने आपको समाज या सस्था विशेष से पराधीन न समझे। समाज मे कार्यकर्ताओ की प्रतिष्ठा कायम रहे और कार्यकर्ता निश्चिंत होकर कार्यरत हो तभी अपेक्षित काम हो सकता है। स्वाभिमान और प्रतिष्ठा की सुरक्षा के साथ नि स्वार्थ वृत्ति से काम करने वाले कार्यकर्ता सफल हो सकते है।

समाज इस सम्वन्ध मे किसी योजना का या व्यवस्था का चिन्तन करेगा तो ठीक, अन्यथा केवल वात से काम नहीं होगा। 'अ' से लेकर 'ह' तक सारी व्यवस्थाओ का संयोजन कार्यकर्ताओ पर छोडना उनके साथ न्याय नहीं हो सकता। इसके लिए दूसरा विकल्प खोजना होगा, जिससे समर्पित निष्ठाशील कार्यकर्ताओ को काम करने का अवकाश मिले और समाज की शक्ति प्रयोग के अभाव मे कुठित न हो। सभवत अगले साल अणुव्रत को इसी दिशा मे कुछ काम करना होगा।

प्रश्न : सम्प्रदाय के कारण धर्म का सार्वभौम और सार्वजनीन स्वरूप धुंधला हो गया है। आपने अणुव्रत के द्वारा एक सम्प्रदायविहीन धर्म का प्रारूप जनता के सामने रखा है। क्या इस प्रयोग से अन्य धर्म-सम्प्रदायो के लोग सन्तुष्ट है? अथवा इसमे भी किसी खतरे की सम्भावना की जा रही है?

उत्तर : अणुव्रत के असाम्प्रदायिक स्वरूप से सव लोगो को सन्तोप है,

यह तो मैं नहीं कह सकता। पर जो लोग हमारे सम्पर्क में आए है, जिन्होने अणुव्रत को समझा है, उन्होने शत-प्रतिशत रूप से अणुव्रत को असाम्प्रदायिक माना है। ऐसे लोगों में प्रबुद्ध और धर्म सम्प्रदायों से ऊबे हुए लोगो की मुख्यता है। जिन व्यक्तियों की धर्म में आस्था नहीं थी, उन्होने अणुव्रतदर्शन समझकर अपने आपको धार्मिक मानना स्वीकार कर लिया। अन्य सम्प्रदायों के प्रमुख लोग भी इसे व्यापक बनाने मे सहयोगी बनते तो धर्म के क्षेत्र मे नयी क्रान्ति घटित होती।

खतरे की सम्भावना का जहां तक प्रश्न है, इसमें किसी प्रकार की उखाडपटक को अवकाश ही नहीं है। ये तो जीने के कुछ आदर्श है। इन्हें कोई अपनाए तो ठीक, न अपनाए तो ठीक। इसके द्वारा किसी का अहित तो हो ही नहीं सकता। शुरू-शुरू मे कुछ जैन और कुछ अजैन लोग अणुव्रत की बात से अवश्य आशंकित हुए थे। जैनों को लगा कि आचार्यजी अणुव्रत के नाम से जैन-अजैन सबको एक कर रहे हैं। इससे जैनत्व का महत्त्व कम हो जाएगा। अजैन लोगों ने कहा—ये अणुव्रत के नाम से सबको जैन बनाना चाहते है। किन्तु जैसे-जैसे समय बीता, यह बात स्पष्ट हो गई कि अणुव्रत के कारण जैन-अजैन किसी भी समाज को किसी प्रकार की हानि नहीं उठानी पडी।

प्रश्न : आपने अणुव्रत आदोलन का सूत्रपात किया। यह एक ही कार्यक्रम इतना व्यापक है कि इसमे शिक्षा, साधना, सेवा एवं शोध की अनेक गतिविधियो को जोड़ा जा सकता था। फिर आपने प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान तथा इन जैसी ही अन्य गतिविधियो का प्रारभ क्यो किया? इस विकेन्द्रित शक्ति को सलक्ष्य अणुव्रत आदोलन मे ही खपाया जाता तो क्या किसी विशिष्ट उपलब्धि की संभावना नहीं होती?

उत्तर : अणुव्रत एक व्यापक कार्यक्रम है, इसमें कोई दो मत नहीं है। इसका संबंध मानव मात्र के साथ है। जाति, सम्प्रदाय, देश,

रंग और लिंग के घेरे इसे कभी अपनी सीमा में घेर नही सके। इसे केन्द्र में रखकर कोई भी मानव-हितकारी प्रवृत्ति चलाई जा सकती है। इस दृष्टि से इसे ही प्रमुखता मिलनी चाहिए थी, पर समसामयिक अपेक्षाओं के आधार पर अन्य प्रवृत्तियो को भी गौण नहीं किया जा सकता। प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान का जहां तक प्रश्न है, ये दोनो तत्त्व अणुव्रत के ही पृष्ठपोषक है। अणुव्रत एक मानवीय आचार-सहिता है। पर कोई भी आचार-सहिता उपदेश देने मात्र से आत्मसात् नही हो पाती।

उसे आत्मसात् करने के लिए प्रयोग जरूरी है। प्रेक्षाध्यान ऐसी प्रायोगिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य को मनुष्यता के सांचे मे ढाला जा सकता है। अणुव्रत एक मॉडल है और प्रेक्षाध्यान मनुष्य को उसके अनुरूप वनाता है।

अणुव्रत की सप्तसूत्री साधना का पहला सकल्प है—मै प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करूगा, आत्मनिरीक्षण करूगा। इस दृष्टि से अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान एक-दूसरे के पूरक हैं। जीवन मे अणुव्रत नही है तो प्रेक्षाध्यान की सार्थक निष्पत्ति नही आ सकती। इसी प्रकार अणुव्रती व्यक्ति प्रेक्षाध्यान का अभ्यास नहीं करेगा तो सकल्पशक्ति के विकास में बाधा आ सकती है। प्रेक्षाध्यान मानसिक एकाग्रता का उपाय है। मन की चंचलता सकल्पशक्ति को शिथिल वनाती है। इसलिए मै प्रेक्षाध्यान को अणुव्रती के लिए अत्यत आवश्यक मानता हू।

'जीवन-विज्ञान' अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान से भिन्न कोई नया कार्यक्रम नहीं है। यह शिक्षा के क्षेत्र मे एक प्रयोग है। भारतीय शिक्षापद्धति की एक वडी कमी यह है कि उसमे मानवीय मूल्यो, चरित्र या जीवन जीने की कला पर अधिक ध्यान नही दिया गया। इस कारण शिक्षा एकांगी हो गई। शिक्षा पूरी करने के वाद कोई व्यक्ति अलग से जीवन मूल्यों या चरित्र का प्रशिक्षण ले सके, यह सभव नहीं लगता। विद्यार्थी प्रारंभ से ही समग्रता के साथ पढे। सैद्धान्तिक और प्रायोगिक रूप मे जीवन जीने

की कला सीखे, यही जीवन-विज्ञान है। मै इन तीनों को त्रिवेणी के रूप मे देखता हूं। गंगा, यमुना और सरस्वती की तरह अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान की त्रिवेणी में अवगाहन करने वाले लोग अच्छा जीवन जीना सीख लेते है।

अहिंसा का प्रशिक्षण हमारा एक कार्यक्रम है। यह भी अणुव्रत की भावना के अनुरूप है। अणुव्रत के प्रथम पांच नियमों का सबंध अहिंसा के साथ है। प्रशिक्षण के अभाव में अहिसा केवल वाणी का विषय बनकर रह जाती है। इसलिए उसका प्रशिक्षण अहिसा को व्यावहारिक बनाने का उपक्रम है।

प्रश्न : क्या अणुव्रत आन्दोलन के द्वारा आपने वह सब कुछ पा लिया, जिसकी आपके मन मे आकांक्षा थी?

उत्तर : अणुव्रत आन्दोलन का प्रारम्भ किसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए नहीं हुआ। उस समय की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में अणुव्रत अस्तित्व में आया। हमने अपनी शक्ति के अनुसार इसमे पुरुषार्थ का नियोजन किया। उसकी निष्पत्ति या परिणति को शब्दो से अभिव्यक्ति देना सभव नहीं लगता। इस सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि अणुव्रत के कार्यक्रमों को लेकर हमें आत्मतोष है। हम आज भी अपने संघ की शक्ति इसे जन-जन तक पहुंचाने में लगा रहे हैं। हमारी एक ही आकांक्षा है कि जब तक मानव जाति को इस आन्दोलन की अपेक्षा है, हम अपनी शक्ति का इसमें नियोजन करते रहे।

प्रश्न : आपकी नजरो में अणुव्रत आन्दोलन कहां तक सफल है?

उत्तर : अणुव्रत आन्दोलन के असफल होने का तो कोई सवाल ही नहीं है। मै किसी भी कार्यक्रम की सफलता को उसके परिणाम मे नहीं, प्रयत्न में देखता हूं। हमारा प्रयत्न शुद्ध है, इसलिए मैं इसे सफल ही मानता हू। हमारा यह दावा भी नहीं है कि हम सारी दुनिया को सुधार देगे। हम अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न करना चाहते है, करते रहे हैं और करते रहेगे।

प्रश्न : अणुव्रत आन्दोलन से जनता को प्रत्यक्षतः क्या लाभ हुआ है?

उत्तर : सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ है कि सारे देश मे नैतिकता का वातावरण बना है। कुछ समय पहले जब विद्यार्थियो ने व्यापक रूप से तोड़-फोड़मूलक प्रवृत्तियां प्रारम्भ की थी और प्राय. सभी प्रान्त इसके शिकार हो गए थे। उस समय कुछ क्षेत्रों के विद्यार्थी तटस्थ रहे। वे उपद्रवकारियो के साथ नही हुए। उनमे अजमेर के विद्यार्थियो को उदाहरण रूप मे उपस्थित किया जा सकता है। इसका एकमात्र कारण यह था कि वहा के सभी स्कूलो मे अणुव्रत प्रवेश पा चुका था। हजारो विद्यार्थी अणुव्रती बने थे। उससे समाज प्रत्यक्ष रूप मे अणुव्रत से लाभान्वित हुआ।

प्रश्न : आज राष्ट्र जिन विषम परिस्थितियो का सामना कर रहा है, उनमे अणुव्रत की क्या भूमिका हो सकती है?

उत्तर : नैतिकता, चरित्र और अध्यात्म को भुला देने से राष्ट्र को विकट परिस्थितियो का सामना करना पडता है। राष्ट्र की जनता नैतिक मूल्यो के प्रति आस्थाशील रहे तो उलझने वढ ही नहीं सकती। अणुव्रत जन-जन के हृदय मे निष्ठा का दीप जलाना चाहता है। किसी समस्या का तात्कालिक समाधान खोजने मे वह विश्वास नही करता। उसका विश्वास मूल को पकडने मे है। वह देश मे एक मात्र ऐसा आन्दोलन है, जो व्यापक रूप से मानवीय मूल्यो पर वल देता है और उनके प्रति निष्ठा पैदा करता है।

प्रश्न : यदि अणुव्रत से राष्ट्रीय समस्याओ का समाधान संभव है तो उससे बेकारी की समस्या को समाहित करने का सीधा और व्यावहारिक उपाय क्या हो सकता है? क्योंकि हमारे देश मे शिक्षित वेकारो की समस्या प्रतिवर्ष वढती जा रही है?

उत्तर : अणुव्रत राष्ट्रीय समस्याओं का समाधायक है। यह एक निर्विवाद तथ्य है। इससे कुछ समस्याओ का समाधान सीधा होता है और कुछ समस्याओ का प्रकारान्तर से। आप अनुभव करते है कि इस समय राष्ट्र अनेक समस्याओं से आक्रान्त है। उनमे सवसे वडी समस्या है भ्रष्टाचार की। शिक्षित वेकारो की समस्या के मूल मे भी रोजगार आयोगो मे वढती जा रही अनैतिकता विशेप

रूप से जिम्मेवार है। यदि सिफारिशों के आधार पर अयोग्य व्यक्तियों को काम मिलता है और योग्य व्यक्ति बेकार रहते हैं तो यह देश का दुर्भाग्य है। अणुव्रत जन-जन को नैतिकता और सदाचार के संस्कार देता है। इन संस्कारों के द्वारा भाई-भतीजावाद की वृत्तियां समाप्त हो जाएं तो समस्या काफी सुलझ सकती है।

दूसरी दृष्टि से मैं सोचता हूं तो प्रतीत होता है कि शिक्षित बेकारों की समस्या मे उन शिक्षित लोगों का भी हाथ है जो सरकारी दफ्तरों मे बाबू बनना चाहते है, पर हाथ से काम करने मे सकुचाते हैं। मशीनीकरण के युग में सैकड़ो-सैकड़ो व्यक्तियों का काम एक मशीन से हो जाता है। शिक्षित व्यक्ति सरकारी नौकरी को अधिक पसन्द करते है। सरकारी या उसी प्रकार की नौकरी उपलब्ध न हो तो वे निष्क्रिय होकर बैठ जाते हैं। इस परिस्थिति में बेकारी स्वाभाविक है। अणुव्रत व्यक्ति को श्रम और स्वावलम्बन के संस्कार देता है। बौद्धिक श्रम के विनिमय में काम नहीं मिलता है तो शारीरिक श्रम किया जा सकता है। पर ऐसा करने मे जो लोग लज्जा या हीनता का अनुभव करते हैं, वे प्राप्त काम को ठुकराकर बेकार हो जाते है।

अणुव्रत के पास ऐसी कोई इन्डस्ट्री नहीं है। जिसमें वह बेकारो को काम दे सके और राष्ट्र की एक विकट समस्या पलक झपकते ही समाहित हो जाए। इस समस्या के समाधान मे व्यक्ति की श्रम-निष्ठा और समाज की सदाचार-निष्ठा का बहुत बडा योग हो सकता है। जो युवक बेरोजगारी के कारण निराश हो रहे हैं, अणुव्रत उनके हाथ मे आशा का दीया पकडा सकता है। अपेक्षा एक ही है कि वे अणुव्रतो को समझे और अणुव्रती बनें। अणुव्रती बनने मात्र से जीविका की समस्या का हल नहीं हो जाता, पर व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाता है। वह अर्थ को जीवन का साध्य नहीं मानता, जीवन-यापन का साधन मानता है। वह आवश्यकता और आकाक्षा के बीच भेदरेखा खींच सकता

है। वह सरकारी नौकरी की मुहताज न रहकर 'अपने हाथ जगन्नाथ'—इस किंवदन्ती को चरितार्थ कर सकता है।

प्रश्न : युवा छात्र-छात्राओ को कॉलेज मे कदम रखते ही प्रथम दिन रैगिग का सामना करना पडता है। रैगिंग का उद्देश्य चाहे जो भी रहा है किन्तु उसका वर्तमान रूप बिगडता जा रहा है। क्या अणुव्रत के माध्यम से आप उसका कोई उपयोगी विकल्प प्रस्तुत कर सकते है?

उत्तर : भारत मे रैगिंग का प्रचलन विदेशी सस्कृति की देन है। 'अग्रेज गये, पर अग्रेजियत नहीं गयी' यह जनश्रुति रैगिग के सदर्भ में चरितार्थ हो रही है। भारत अनुकरणप्रधान देश है। अनुकरण अच्छी और बुरी सभी वातो का होता है। पर बुरी दातो का प्रभाव अधिक परिलक्षित हो रहा है। विदेश मे रैगिंग जैसी अशालीन परम्परा को मान्यता मिले तो कोई आश्चर्य नहीं होता। भारतीय सस्कृति मे यह सब उचित नहीं है। मधुर-विनोद से मेरा कोई मतभेद नही है। किन्तु अश्लील व्यवहार और भद्दे मजाक भारतीय मानसिकता के अनुरूप नहीं है।

अणुव्रत बुराइयो का प्रतिरोधक है। वे बुराइया सामाजिक हो, आर्थिक हो, राजनीतिक हो या शैक्षणिक, अणुव्रत की गति अप्रतिहत है। वह बुराई मात्र का प्रतिकार चाहता है। रैगिग को मैं शैक्षणिक वुराई के रूप मे देखता हू। कॉलेज जाने से पहले छात्र-छात्राओ के मन मे कॉलेज जीवन की जो सुखद कल्पनाएं होती है, वे पहले ही दिन विखर जाती हैं। पिछले दिनो कुछ छात्र-छात्राओ ने रैगिंग के सम्वन्ध मे अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की थीं। उनके आधार पर यह जाना जाता है कि अधिकाश विद्यार्थी रैगिंग के वर्तमान रूप से संतुष्ट नहीं है। कुछ तो इसे सर्वथा वदलना चाहते है। क्योकि इससे शिक्षण के प्रति निराशा हो सकती है। दो-चार प्रतिशत विद्यार्थी इसके पक्ष मे हो सकते हैं। सभावना की जा सकती है कि वे भी अपने साथ किये गये अभद्र व्यवहार का प्रतिशोध लेने के लिए ही

ऐसी विचारधारा रखते है।

हल्का-सा आमोद-प्रमोद जीवन की स्वस्थता का अग है किन्तु भद्दे और अमानवीय व्यवहार की शिक्षा के साथ सगति नहीं हो पाती। इसका विकल्प प्रस्तुत करने से पहले अणुव्रत आपको यह सुझाव देगा कि विद्यार्थियो से मिल-जुलकर उनकी भावना समझी जाए। उन्हे साथ मे लेकर कोई स्वस्थ पद्धति निर्धारित की जाए ताकि विद्यार्थी इस अवांछनीय प्रवृत्ति को शालीनता में परिणत कर सकें। रैगिग को अनुचित मानने वाले विद्यार्थी स्वय ही कोई ऐसा विकल्प प्रस्तुत करे, जो उनकी स्वस्थ रचनात्मक मानसिकता को अभिव्यक्ति दे सके।

प्रश्न : क्या अणुव्रत का दर्शन व्यक्ति के अर्थप्रधान दृष्टिकोण को बदलने मे सक्षम है? क्योकि ऐसा हुए बिना प्रगति वस्तुत प्रतिगति ही होती है?

उत्तर : अणुव्रत का दर्शन जीवन के किसी एक ही विकृत दृष्टिकोण के परिमार्जन का लक्ष्य लेकर निर्धारित नहीं हुआ है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, पारिवारिक और वैयक्तिक—सभी क्षेत्रों में घुसी हुई विकृतियो का सुधार करना अणुव्रत का लक्ष्य है। आज स्थिति ऐसी बन गयी है कि जीवन का कोई भी पक्ष निर्मल नहीं रहा है। अर्थप्रधान दृष्टिकोण ने सिद्धातो और नीतियो को भी ताक पर रख दिया है। स्वार्थ-चेतना का सूरज इतना तेज प्रकाश फेकता है कि मनुष्य की आखे चुधिया गई हैं। अणुव्रत का दर्शन स्पष्ट है, निर्विवाद है। उसका प्रयोग परस्मैपद की भाषा में न होकर आत्मनेपद की भाषा मे हो, यह आवश्यक है। अर्थप्रधान दृष्टिकोण को बदलने का सबसे छोटा, सीधा और कारगर प्रयोग यह है कि अर्थ को जीवन का साध्य नही, जीवनयापन का साधन मात्र माना जाए।

प्रश्न : आपके सगठन मे भी राजनेताओ और प्रभावी सेठ-साहूकारो को ही प्रमुखता मिलती है। ऐसा क्यो? क्या उनके सहयोग के बिना आन्दोलन सफल नहीं हो सकता?

है। वह सरकारी नौकरी की मुंहताज न रहकर 'अपने हाथ जगन्नाथ'—इस किंवदन्ती को चरितार्थ कर सकता है।

प्रश्न : युवा छात्र-छात्राओ को कॉलेज मे कदम रखते ही प्रथम दिन रैगिंग का सामना करना पड़ता है। रैगिंग का उद्देश्य चाहे जो भी रहा है किन्तु उसका वर्तमान रूप बिगड़ता जा रहा है। क्या अणुव्रत के माध्यम से आप उसका कोई उपयोगी विकल्प प्रस्तुत कर सकते है?

उत्तर : भारत में रैगिग का प्रचलन विदेशी सस्कृति की देन है। 'अग्रेज गये, पर अंग्रेजियत नहीं गयी' यह जनश्रुति रैगिंग के संदर्भ मे चरितार्थ हो रही है। भारत अनुकरणप्रधान देश है। अनुकरण अच्छी और वुरी सभी बातो का होता है। पर बुरी बातों का प्रभाव अधिक परिलक्षित हो रहा है। विदेश मे रैगिंग जैसी अशालीन परम्परा को मान्यता मिले तो कोई आश्चर्य नहीं होता। भारतीय सस्कृति मे यह सब उचित नहीं है। मधुर-विनोद से मेरा कोई मतभेद नहीं है। किन्तु अश्लील व्यवहार और भद्दे मजाक भारतीय मानसिकता के अनुरूप नहीं है।

अणुव्रत बुराइयो का प्रतिरोधक है। वे बुराइयां सामाजिक हो, आर्थिक हो, राजनीतिक हो या शैक्षणिक, अणुव्रत की गति अप्रतिहत है। वह वुराई मात्र का प्रतिकार चाहता है। रैगिंग को मै शैक्षणिक वुराई के रूप में देखता हूं। कॉलेज जाने से पहले छात्र-छात्राओं के मन में कॉलेज जीवन की जो सुखद कल्पनाएं होती है, वे पहले ही दिन बिखर जाती हैं। पिछले दिनों कुछ छात्र-छात्राओ ने रैगिंग के सम्वन्ध में अपनी प्रतिक्रियाए व्यक्त की थीं। उनके आधार पर यह जाना जाता है कि अधिकाश विद्यार्थी रैगिंग के वर्तमान रूप से संतुष्ट नहीं है। कुछ तो इसे सर्वथा वदलना चाहते हैं। क्योंकि इससे शिक्षण के प्रति निराशा हो सकती है। दो-चार प्रतिशत विद्यार्थी इसके पक्ष मे हो सकते हैं। संभावना की जा सकती है कि वे भी अपने साथ किये गये अभद्र व्यवहार का प्रतिशोध लेने के लिए ही

ऐसी विचारधारा रखते है।

हल्का-सा आमोद-प्रमोद जीवन की स्वस्थता का अंग है किन्तु भद्दे और अमानवीय व्यवहार की शिक्षा के साथ सगति नही हो पाती। इसका विकल्प प्रस्तुत करने से पहले अणुव्रत आपको यह सुझाव देगा कि विद्यार्थियो से मिल-जुलकर उनकी भावना समझी जाए। उन्हे साथ मे लेकर कोई स्वस्थ पद्धति निर्धारित की जाए ताकि विद्यार्थी इस अवाछनीय प्रवृत्ति को शालीनता मे परिणत कर सके। रैगिंग को अनुचित मानने वाले विद्यार्थी स्वय ही कोई ऐसा विकल्प प्रस्तुत करे, जो उनकी स्वस्थ रचनात्मक मानसिकता को अभिव्यक्ति दे सके।

प्रश्न : क्या अणुव्रत का दर्शन व्यक्ति के अर्थप्रधान दृष्टिकोण को बदलने मे सक्षम है? क्योकि ऐसा हुए बिना प्रगति वस्तुत प्रतिगति ही होती है?

उत्तर : अणुव्रत का दर्शन जीवन के किसी एक ही विकृत दृष्टिकोण के परिमार्जन का लक्ष्य लेकर निर्धारित नहीं हुआ है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, पारिवारिक और वैयक्तिक—सभी क्षेत्रो मे घुसी हुई विकृतियो का सुधार करना अणुव्रत का लक्ष्य है। आज स्थिति ऐसी बन गयी है कि जीवन का कोई भी पक्ष निर्मल नहीं रहा है। अर्थप्रधान दृष्टिकोण ने सिद्धांतो और नीतियो को भी ताक पर रख दिया है। स्वार्थ-चेतना का सूरज इतना तेज प्रकाश फेकता है कि मनुष्य की आखे चुधिया गई है। अणुव्रत का दर्शन स्पष्ट है, निर्विवाद है। उसका प्रयोग परस्मैपद की भाषा मे न होकर आत्मनेपद की भाषा मे हो, यह आवश्यक है। अर्थप्रधान दृष्टिकोण को बदलने का सबसे छोटा, सीधा और कारगर प्रयोग यह है कि अर्थ को जीवन का साध्य नही, जीवनयापन का साधन मात्र माना जाए।

प्रश्न : आपके सगठन मे भी राजनेताओ और प्रभावी सेठ-साहूकारो को ही प्रमुखता मिलती है। ऐसा क्यो? क्या उनके सहयोग के बिना आन्दोलन सफल नहीं हो सकता?

उत्तर : राजनेता हो, सेठ-साहूकार हो, श्रमिक हो या और कोई, हमारा काम सबको प्रेरणा देने का है। हमारा सम्बन्ध आम आदमी से है। हम ऐसा मानते है कि प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों की अपनी उपयोगिता है। उन सबके लिए नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यो से परिचित होना और यथाशक्ति उनके अनुसार आचरण करना आवश्यक है। जो लोग सम्पर्क मे आएगे ही नहीं, उनको दिशा कैसे मिलेगी?

अणुव्रत की सफलता का जहां तक सवाल है, वह किमी से सफल नहीं है और किसी से विफल नहीं है। अणुव्रत को हमने मानवधर्म के रूप में प्रस्तुत किया है। धर्म के तत्त्व अपने आप मे सफल-असफल क्यो होगे? जो लोग उसे स्वीकार करेगे, वे सफल होगे। बडे लोग अणुव्रती बनेगे तो औरो को भी प्रेरणा मिलेगी। भारतीय सस्कृति मे एक अवधारणा रही है कि यद् यदाचरति श्रेष्ठ. तत् तदेवेतरो जन.—श्रेष्ठ लोग जो आचरण करेगे, सामान्य लोग उनका अनुसरण करेगे। ऐसे श्रेष्ठ कौन है, जिनको उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सके। क्या सत्ता के सिहासन पर बैठने वाले श्रेष्ठ है? क्या वैभवसम्पन्न लोग श्रेष्ठ है? क्या साहित्यकार, पत्रकार श्रेष्ठ हैं? पिछले दिनो मुख्यमत्री के सामने हमने यही बात रखी थी। वे बोले—'उदाहरण बनने वाले लोग मिले, यह बहुत मुश्किल है।' हम इस सम्बन्ध मे निराश नहीं है। हमारी खोज जारी है। हमे अच्छे लोग मिल भी रहे है।

प्रश्न : अणुव्रत आन्दोलन बहुत समय से चल रहा है, फिर आपको प्रेक्षाध्यान चलाने की आवश्यकता क्यो हुई?

उत्तर : अणुव्रत आन्दोलन सदाचार की प्रेरणा देने वाला आन्दोलन है, है, पर सदाचार को प्रतिष्ठित करने के लिए एक प्रक्रियात्मक प्रयोग की आवश्यकता सदा अनुभव होती रही। बहुत बार आदमी मे सदाचार का सकल्प जागता है पर वह संकल्प स्थिर नहीं रह पाता। धीरे-धीरे यह अनुभव होने लगा कि आन्तरिक रूपान्तरण के विना सकल्प की स्थिरता सम्भव नहीं है। आन्तरिक

रूपान्तरण की प्रक्रिया खोजते समय प्रेक्षाध्यान के सूत्र हाथ लगे। प्रेक्षाध्यान से अन्त.स्रावी ग्रन्थियो मे परिवर्तन आता है। आदमी के स्वभाव में परिवर्तन आ सकता है। आन्तरिक रूपान्तरण घटित हो सकता है। इस दृष्टि से अणुव्रत के साथ प्रेक्षा का अनुबन्ध एक महत्त्वपूर्ण देन बन गयी है।

प्रश्न : जो लोग अणुव्रती बनते है, वे उनका निर्वाह करते है या नहीं, क्या सगठन इसकी जांच-पडताल करता है?

उत्तर : कोई भी व्यक्ति व्रती बनता है, स्वेच्छा से बनता है। व्रत उस पर थोपे नहीं जाते। ऐसी स्थिति में हम यह सन्देह क्यो करें कि अणुव्रती व्रतो का निर्वाह करते है या नहीं? सामान्यतः अणुव्रत अधिवेशन के अवसरो पर अणुव्रती लोग मिलते हैं तो अपने व्रतो की समीक्षा करते है। किसी के व्रत मे भग होता है तो वह स्वेच्छा से प्रायश्चित्त भी करता है। कोई भी संगठन किसी व्यक्ति के निजी जीवन में प्रवेश कर उसकी जांच-पडताल मे समय और शक्ति का व्यय क्यो करेगा?

प्रश्न : आप गांव-गांव घूमते है और अणुव्रत का उपदेश देते हैं। किन्तु जो लोग अणुव्रतो के नियमो को स्वीकार करने से इनकार कर देते है, तब आप क्या करते है?

उत्तर : यह आन्दोलन न तो किसी पर व्रत थोपता है और न किसी की असहमति से निराश होता है। हम अपना कर्तव्य करते है। हमारे कुछ साधु-साध्वी नेपाल और सिक्किम तक भी गये है। वे जहां भी गए है आन्दोलन का प्रचार करते रहे हैं। मै स्वय बहुत घूम चुका हू। हमारी पदयात्राए अब भी चल रही हैं। हम जहा जाते है, वहां के लोग बिना किसी भेदभाव के हमे सुनते है। अणुव्रत मे उनकी अच्छी दिलचस्पी रहती है। मैं अणुव्रत को एक असाम्प्रदायिक धर्म के रूप मे प्रस्तुत करता हू। इसका जनता पर असर होता है।

प्रश्न : अब तक की अणुव्रत आन्दोलन की उपलब्धियों पर आपने कभी समीक्षात्मक विवेचना करवायी?

उत्तर : हम अणुव्रत की समीक्षा करते और करवाते रहते है। रायशुमारी का जहा तक प्रश्न है, न अब तक कभी ऐसा किया और न ऐसा करने मे हमारा विश्वास है। अणुव्रत का अधिवेशन प्रतिवर्ष आयोजित होता है, उस समय वार्षिक कार्यक्रमो की समीक्षा तो होती ही है। उसमे उपलब्धियो के साथ अनुपलब्धियो और उसके कारणो की मीमासा भी की जाती है। आगामी वर्ष के कार्यक्रम का निर्धारण होता है। इस वर्ष हम 'अणुव्रत वर्ष' (१ जुलाई, १९९० से ३० जून, १९९१) मना रहे है, वह भी समीक्षात्मक विवेचना की ही निष्पत्ति है।

प्रश्न : साधु-साध्वियो के विहार क्षेत्र प्राय. तेरापथी बहुल इलाके ही है। 'अणुव्रत वर्ष' के दौरान अन्य क्षेत्रो मे भी साधु-साध्वियो के दल पहुचे, इस सम्बन्ध मे आप क्या सोचते है?

उत्तर : जहां तेरापथ श्रावक रहते है, वहा हमारे साधु-साध्वियां जाते है, यह बात सही है। पर क्या उन क्षेत्रो मे तेरापथी ही बसते है? कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली जैसे बडे शहरो मे अन्य लोगो के अनुपात मे तेरापथी कितने है, यह आपसे अज्ञात नहीं है। दूसरी बात—यात्रा के दौरान साधु-साध्विया ऐसे क्षेत्रो मे भी जाते है, जहा एक भी तेरापंथी परिवार नहीं होता।

अणुव्रत एक व्यापक कार्यक्रम है। यह शुरू से ही तेरापथ तक सीमित नहीं है। ऐसे कार्यकर्ता भी अणुव्रत के साथ जुडे हुए हैं, जो तेरापथी नहीं है। 'अणुव्रत वर्ष' मे इसे और अधिक व्यापक बनाने का लक्ष्य है। ऐसी स्थिति मे साधु-साध्वियो के वर्ग अपनी यात्रा के दौरान उन सभी क्षेत्रो मे काम करते रहेंगे, जहा मानवीय मूल्यो के विकास की थोडी भी सभावना है।

प्रश्न : जब भारतवर्ष में ही अणुव्रत का प्रचार पूरा नहीं हो सका तो विदेश मे प्रचार के लिए क्यों सोचा जा रहा है?

उत्तर : प्रसार के लिए अमुक देश की सीमा का निर्धारण नहीं किया जा सकता। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता के अनुसार कार्यक्षेत्र मे काम होता है। भारत तो अणुव्रत का कार्यक्षेत्र है

ही, विदेशी लोग भी इससे लाभान्वित होते हो तो वहा प्रचार का काम क्यो नहीं हो? प्रचार के साथ पूरा या अधूरा शब्द विशेष महत्त्व नहीं रखता। कोई भी प्रचारक अपने सिद्धान्तो को प्रचार की दृष्टि से भी पूर्णता दे सकता है, ऐसा इतिहास नहीं मिलता।

इस प्रश्न के सन्दर्भ में एक विचारणीय तथ्य यह भी है कि भारतीय लोगो की मनोवृत्ति अनुकरण-प्रधान है। वे उन बातो का अनुकरण अधिक करते है जो दूसरे देशो मे प्रचलित हो जाती है। भारतीय मानस को अणुव्रत के प्रति आकृष्ट करने के लिए तथा विदेशी लोगो को भारत की आध्यात्मिक और नैतिक सस्कृति का परिचय कराने के लिए भी यदि विदेशो मे अणुव्रत मिशनरी सक्रिय हो तो अच्छा काम हो सकता है। हमारा चितन केवल भारतीय लोगों तक सीमित नहीं है। समग्रता से जो कुछ सोचा जा रहा है, उसका प्रसार भी समग्रता से होना जरूरी है। मैं चाहता हू विदेशो मे अणुव्रत की गूज हो, पर इसके लिए भारत मे चल रहे अणुव्रत कार्य को शिथिल नहीं होने देना है।

प्रश्न : 'योगक्षेम वर्ष' मे हमारा समाज पूरे वर्ष भर काफी उत्साह और व्यस्तता से लगा रहा। उसके तत्काल बाद 'अणुव्रत वर्ष' के रूप मे कार्यक्रम घोषित हुआ है। क्या इसमे हमारा व्यापारी समाज आपकी आशा के अनुरूप कार्य कर सकेगा?

उत्तर : सन् १९८९ का वर्ष हमने 'योगक्षेम वर्ष' के रूप में मनाया। उसका सम्बन्ध मुख्यत तेरापंथ समाज के साथ था। वह प्रयोग अनेक दृष्टियो से सार्थक और सफल रहा। अब चालू वर्ष को 'अणुव्रत वर्ष' के रूप मे मनाने का निर्णय लिया जा चुका है। अणुव्रत का कार्यक्षेत्र व्यापक है। 'अणुव्रत वर्ष' मे हमारे समाज का व्यापारी वर्ग काम कर सकेगा या नही, इस संकीर्ण दायरे मे हम क्यो सोचे? अणुव्रत का कार्यक्रम मानवीय कार्यक्रम है। यह देश के सब वर्गो के लिए है। जिन लोगो मे मानवीय मूल्यो के प्रति आस्था है, वे किसी भी वर्ग मे हो, अणुव्रत का काम

कर सकते है। मै तो यह मानता हूं कि श्रमिक वर्ग से लेकर सत्ता मे बैठे लोगो तक सबका दायित्व है कि वे 'अणुव्रत वर्ष' की योजना को समझे और उसे क्रियान्वित करने मे यथासभव योगदान दे। व्यापारी समाज भी अलग क्यो रहेगा? यह भी अपनी शक्ति के अनुसार मानवीय मूल्यो को महत्त्व दे और अपनी गरिमा को बढाए।

प्रश्न : 'अणुव्रत वर्ष' प्रारम्भ हुआ और सपन्न भी हो गया। भारत की राजधानी मे इसकी अच्छी चर्चा रही। क्या देश भर मे आयोजित होने वाले 'अणुव्रत वर्ष' के कार्यक्रमो से आप सतुष्ट है? अणुव्रत वर्ष की मुख्य उपलब्धि क्या माननी चाहिए?

उत्तर : आजकल वर्ष मनाने की होड-सी चल पडी है। सयुक्त राष्ट्र सघ प्रतिवर्ष कोई-न-कोई वर्ष मनाता है। कई राष्ट्र स्वतन्त्र रूप से भी यदा-कदा वर्ष मनाते है। महिलाओ के लिए तो पूरा दशक मनाया गया। युवक वर्ष, बालिका वर्ष, आवास वर्ष, शान्ति वर्ष, साक्षरता वर्ष आदि न जाने कितने वर्ष मनाए जा चुके है। इस क्रम में हमने भी कई वर्ष मनाए। अनुशासन वर्ष, संयम वर्ष, स्वाध्याय वर्ष, योगक्षेम वर्ष' आदि। अणुव्रत वर्प उसी शृखला की एक कडी है। 'अणुव्रत वर्ष' का अर्थ है चरित्रनिर्माण का वर्ष।

एक वर्ष का समय और हमारी सीमित साधन-सामग्री। बहुत वडी उपलब्धि की वात मै नहीं करता। पर इससे एक वातावरण बना है। लोगो का ध्यान आकृष्ट हुआ है। अणुव्रत कार्य को बल मिला है। 'अणुव्रत वर्ष' देश भर में मनाया गया। जहां अणुव्रत के केन्द्र और सक्रिय कार्यकर्ता है, वहां अच्छे ढग से मनाया गया। इस वर्प अणुव्रत की वात जन-जन तक पहुचाने मे मीडिया का भी अच्छा सहयोग रहा। शिक्षा के क्षेत्र मे इसका अच्छा प्रभाव रहा। अणुव्रत-शिक्षक-ससद के साथ सैकडो शिक्षक जुड गए है। एक लाख शिक्षको को इसके साथ जोडने का लक्ष्य है।

इस वर्ष इलेक्शन के समय अणुव्रत का जो पोस्टर सामने आया, उसने भी लोगो को प्रभावित किया। सभी राजनीतिक पार्टियों के सामने एक आदर्श उम्मीदवार की छवि उभरकर आ गई। उस पर अमल का लक्ष्य अभी काफी दूर है। पर कम-से-कम एक दृष्टि तो सबको मिल ही गई। अणुव्रत के कार्यक्रम चलते रहेगे। हम अपने कार्य से कभी असतुष्ट नहीं होते। सतोष की तो बात ही कहां है? हमारा लक्ष्य बहुत आगे है।

प्रश्न : अणुव्रत आदोलन का भविष्य क्या होगा? इस मिशन के सुदृढ भविष्य के लिए आपने क्या कदम उठाए है और कौन-से नए कदम उठाने जा रहे है?

उत्तर : मुझे नहीं लगता कि अणुव्रत आदोलन का भविष्य कभी धुधला होगा। यह एक ऐसा कार्यक्रम है, जिसे कोई नही चलाएगा तो भी चलेगा। यदि मनुष्यता को जीवित रहना है तो अणुव्रत जैसे नैतिक अभियान को चलना ही होगा। उसका नाम बदल सकता है, स्वरूप बदल सकता है, पर प्राणतत्त्व नही बदल सकता।

अणुव्रत का शाब्दिक अर्थ है छोटे-छोटे व्रत। इसका तात्पर्यार्थ इसे मानवधर्म, असाम्प्रदायिक धर्म, मानवीय मूल्य, स्वस्थ जीवन की न्यूनतम आचारसहिता, सकल्प शक्ति के विकास की प्रक्रिया, आत्मानुशासन का उपाय, संयम को जीवन समझने वाला दर्शन आदि रूपो मे व्याख्यायित करता है। यदि अणुव्रत जैसा कोई उपक्रम सामने नहीं रहेगा तो पारलौकिक हित या मोक्ष की बात तो दूर, वर्तमान जीवन भी जटिल हो जाएगा।

अणुव्रत के भविष्य को सुदृढ बनाने की दृष्टि से एक नई योजना सामने आई है—अणुव्रत परिवार योजना। व्यक्ति तक सीमित अणुव्रत की आस्थाओ को पूरे परिवार मे सप्रेषित करने की यह एक सरल प्रक्रिया है। पारिवारिक संस्कारो की तरह अणुव्रत की आस्थाओ को पीढी-दर-पीढी सक्रान्त करने का यह एक सार्थक उपक्रम है। परिवार के सब सदस्य एक साथ बैठकर अणुव्रत के बारे मे चर्चा करेगे और अणुव्रत परिवार की सदस्यता

को अपना सौभाग्य समझेगे तो इस योजना के माध्यम से चुपचाप एक क्राति घटित हो सकेगी।

धर्मसघ मे विकास की नई दिशाए खोलने की दृष्टि से एक 'विकास परिषद्' गठित की गई है। उसकी अनेक इकाइया है। उनमे एक इकाई अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवनविज्ञान की है। उसके माध्यम से अणुव्रत की भावी योजनाओ का प्रारूप निर्धारित होगा। अणुव्रत मे रुचि रखने वाले कार्यकर्ता उन योजनाओ की क्रियान्विति के लिए जागरूक रहेगे।

प्रश्न : कुछ व्यक्ति परम्परागत रूप से मांसाहारी होते है। क्या उन्होने भी अणुव्रत के नियम स्वीकार किए है?

उत्तर : मै उन व्यक्तियो को भी अणुव्रती के रूप मे स्वीकार करता हूं, जो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते है कि वे प्रथम प्रयास मे मासाहार नहीं छोड सकते किंतु मासाहार छोडने का अभ्यास करना चाहते है। हमारी बगाल एवं दक्षिण यात्रा के दौरान अनेक व्यक्ति हमारे सम्पर्क मे आए जो शाकाहारी नही थे। उन्होने अणुव्रतो के हार्द को समझा और भविष्य में मासाहार से सर्वथा मुक्त होने का लक्ष्य बनाकर व्रतो को स्वीकार किया।

प्रश्न : सम्प्रदाय की सीमा मे आपका असाम्प्रदायिक चिंतन क्या एक विसगति नहीं है?

उत्तर : सूर्य की किरणें सारे संसार को आलोकित करती है। सूर्य की परिधि मे रहते हुए भी उनका प्रकाश कहीं प्रतिवद्ध नहीं है। दीपक का अस्तित्व दीपक की सीमा मे सुरक्षित है, किन्तु प्रकाश पर किसी प्रकार का वधन नहीं। एक प्रधानमत्री पूरे देश का नेतृत्व करते हुए भी किसी पार्टी विशेष से बंधा रहता है। फिर क्या यह सभव नहीं कि एक सम्प्रदाय की सीमा मे रहता हुआ भी व्यक्ति विचारो, भावनाओ और कार्यो से सर्वथा असकीर्ण और असाम्प्रदायिक हो। आकाश की असीमता उपादेय है, पर उपयोगिता की दृष्टि से मकान का अपना महत्व है। धूप-छांव, सर्दी-गर्मी, वर्षा आदि से बचने के लिए मकान अगर आवश्यक

है तो मै सम्प्रदाय को भी अनावश्यक नहीं मानता। पर वह छत का काम करे, दीवार का काम न करे।

प्रश्न : आपके असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण का प्रेरणास्रोत क्या है?

उत्तर : जैनदर्शन को मैं इसका प्रेरणास्रोत मानता हू। मुझे जैनदर्शन से ही असाम्प्रदायिक दृष्टि मिली है। इसलिए मै इसके प्रति विशेष आस्थावान हूं। आचार्य भिक्षु ने हमे जो चितन दिया उसकी सम्प्रदाय के साथ प्रतिबद्धता नहीं है। उनके इस उदार चिन्तन की गहराई मे बैठ कर ही मेरा चितन असाम्प्रदायिकता की ओर मुडा। हरिभद्र आदि कुछ अन्य जैनाचार्यो के साहित्य ने मेरे विचारो को और अधिक पुष्ट कर दिया। वे विभिन्न सम्प्रदायों में आबद्ध होकर भी मानवीय एकता और अखडता के हामी थे। जैनदर्शन के अतिरिक्त युगीन चितन और परिस्थितियो को भी कुछ अशो तक मेरे असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण मे निमित्त माना जा सकता है।

प्रश्न : आपके असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण पर जन मानस की क्या प्रतिक्रिया हुई?

उत्तर : असाम्प्रदायिक चिन्तन सामने आते ही मेरे कई अनुयायियो ने शिकायत की—आप जैन व तेरापंथ के तत्त्वो को गौण कर रहे है। मूल को भूलकर औरो को अपनाने का क्या अर्थ है? मेरे अनुयायियो के अलावा कई इतर लोगो की प्रतिक्रिया थी कि मै असाम्प्रदायिकता के नाम पर सबको जैन अथवा तेरापंथी बना रहा हू। इन मनोभावो ने साम्प्रदायिकता को उभारा, फलत. हमे अनेक विरोधी बवडरो से गुजरना पड़ा। अग्नि-परीक्षा विवाद को लेकर रायपुर मे हमारे साथ जो कुछ घटा, वह भी इसी प्रतिक्रिया का एक परिणाम है। इन दोनो प्रतिक्रियाओ के बावजूद मै अपने लक्ष्य के प्रति अविचल रहा। इस अविचलता के कारण मुझे बहुत कुछ सहना पडा। पर आज दोनों वर्गो के अधिसंख्य व्यक्ति मुझे यथार्थ रूप मे समझने लगे हैं। दक्षिण यात्रा मे ऐसे अनेक प्रसग आए जब मुझे सुनने को मिला कि शताब्दियों मे यह पहला अवसर है जबकि एक सम्प्रदाय विशेष के आचार्य सर्वथा

असाम्प्रदायिक तत्त्व दे रहे है। मेरा ऐसा अनुभव है कि असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण का निखार सहिष्णुता मे है। समय पर सहिष्णु न रहा जाए तो चिन्तन का मूल्य ही क्या है? हमारे असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण का जो मूल्याकन हो रहा है, उसके पीछे निश्चित ही हमारे सहिष्णु मनोभावो का क्रियान्वयन है।

प्रश्न : आपके असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण के फलित क्या है?

उत्तर : असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण ने हमारा जीवन क्रम ही वदल दिया। इसकी कुछ उपलब्धियां इस प्रकार है :—

१. सत्य को परखने की यथार्थ दृष्टि।
२. चिन्तन का विस्तार।
३. आग्रह और अभिनिवेश का अन्त।
४. प्रतिपादन नव उन्मेप शैली मे निखार।
५. प्रबुद्ध वर्ग की निकटता।
६ जन-जन का स्नेह व श्रद्धाभाव।
७. समन्वयवादी मनोवृत्ति व तटस्थ भाव का विकास।
८. प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहिष्णुता का विकास।
६. भेद मे अभेद देखने की क्षमता।

हमारे इस तटस्थ दृष्टिकोण के कारण हमे जन-जन का हार्दिक विश्वास मिल रहा है।

अहिंसा

प्रश्न : विश्वशान्ति का मूल मंत्र क्या है?

उत्तर : विश्वशान्ति का मूल मंत्र है—समता, मैत्री, अहिंसा। दूसरे शब्दों मे कहा जाए तो विचार और आचार की समानता। सामान्यत. व्यक्ति के विचार तो बहुत ऊंचे और अच्छे होते है, किन्तु उन पर अमल नहीं होता। यदि मनुष्य सार्वभौम नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा मे समर्पित हो जाए, विलासी मनोवृत्ति से मुह मोड ले और भोगवाद के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण निर्मित कर ले तो विश्वशान्ति के मार्ग की बाधाए स्वयं दूर हो जाएगी।

प्रश्न : अहिसा वास्तव मे हिसा का नकार—अस्वीकार ही है अथवा समग्र सृष्टि के साथ अविभाज्य आत्मीय संबध? इस गहरे विषय का सरल शब्दो मे स्पष्टीकरण चाहते है।

उत्तर : अहिसा के विश्लेषण मे उसके दो रूप सामने आते हैं। इसका स्थूल रूप निषेधात्मक है। न हिंसा—अहिसा अर्थात् किसी प्राणी के प्राणो का वियोजन नही करना। इसका सूक्ष्म और विधेयात्मक स्वरूप है—प्राणीमात्र के साथ गहरा आत्मीय सबध। 'अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए'—छह काय के जीवो को अपनी आत्मा के समान अनुभव करो। 'समया सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य'—त्रस और स्थावर सब जीवो के प्रति समता का विकास करो। 'मित्ती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ न केणई'—सब जीवो के साथ मेरा मैत्री सवध है। किसी के साथ मेरी शत्रुता नहीं है। जैन आगमों के ये सूक्त अहिसा की मूलस्पर्शी व्याख्या के लिए पर्याप्त है।

समग्र सृष्टि के साथ आत्मीय सवध की सूक्ष्मता साधारण व्यक्ति की समझ मे नहीं आ सकती। पर जब तक विश्वात्मा के साथ ऐक्य की अनुभूति नहीं होती तब तक अहिसा का स्थूल या निषेधात्मक रूप ही सामने रहता है।

अहिसा का संबंध प्राण-वियोजन या बचाव से नहीं, व्यक्ति की वृत्तियों से है। एक व्यक्ति किसी प्राणी को नही मारता, किन्तु उसके विचार द्वेषपूर्ण है। वह किसी को संक्लेश पहुचाने का चिन्तन करता है, यह हिसा है। एक व्यक्ति किसी दूसरे के भय या आशका से हिसा से उपरत रहता है। उसके आचरण में अहिसा की पुट होने पर भी वह विशुद्ध अहिसा धर्म को आत्मगत नहीं कर सकता। सिद्धात की गहराइयों मे पैठने वाले व्यक्ति प्रमाद और अपध्यान को भी हिसा मानते है।

अहिसा को समग्रता से समझने के लिए उसके वैचारिक स्वरूप को भी समझना आवश्यक है। संकीर्ण मनोवृत्ति, आक्षेपात्मक आलोचना की वृत्ति, हीनता और अतिरिक्तता का मनोभाव, किसी के विकास मे बाधा पहुचाने का दृष्टिकोण, बलात् अनुशासन करना, किसी को पराधीन बनाना, किसी को अस्पृश्य मानना—ये सब हिसा के अन्तर्गत है। अपने-पराये की भेद-रेखा से ऊपर उठकर सबके प्रति मैत्री-भाव का विकास अहिसा का विधेयात्मक पक्ष है। विधि और निषेध दोनो की समन्विति अहिसा की परिपूर्णता है।

प्रश्न : किसी के सीने पर बन्दूक की नोक रखकर कोई चीज छीनी जाए या अपने सीने पर बन्दूक रखकर किसी से कोई चीज छुडाई जाए—इन दोनो ही स्थितियो मे दूसरे के लिए बाध्यता होती है। बाध्यता हिसा होती है। आजकल के सत्याग्रहो की लगभग यही स्थिति है। क्या उन्हे शुद्ध अहिसात्मक प्रतिरोध की सज्ञा दी जा सकती है?

उत्तर : अच्छे परिणाम की आशा से की गई बाध्यता को भी मै शुद्ध सत्याग्रह या अहिसा का प्रयोग नहीं मानता। बाध्यता वास्तव में बाध्यता ही है। बाध्यता मानसिक हिसा है। वह किसी भी परिस्थिति मे अहिसा नहीं हो सकती। हिसा, तोडफोड और आगजनी मे कोई भी सत्याग्रह सफल कैसे हो सकता है? अणुव्रत का लक्ष्य विशुद्ध अहिसात्मक सत्याग्रह के प्रयोग से नैतिक मूल्यों को

प्रतिष्ठापित करना है। अहिसा मे इसकी सम्पूर्ण आस्था है। अणुव्रती कार्यकर्ता इसी को आधार मानकर चलते है। उन्होने नशाबन्दी आन्दोलन मे जो कुछ किया था या क्रियान्विति रूप मे जो कुछ हुआ, वह विशुद्ध अहिसा की परिधि मे है, मैं नहीं कह सकता। अहिसा का प्रयोग व्यक्तिगत शुद्धि और क्षमता का प्रतीक है। इससे एक वातावरण बनता है, वातावरण से समूह प्रभावित होता है और व्यक्ति की इच्छा फलीभूत हो जाती है। सामूहिक रूप मे भी अहिंसा का प्रयोग हो सकता है। वह प्रयोग व्यक्ति की अपनी कसौटी के लिए होना चाहिए। सत्याग्रही के मन मे केवल सत्य-सुरक्षा का भाव रहे तो वह उसके लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिसा को प्रोत्साहन नहीं दे सकता। सत्याग्रह विशुद्ध अहिसा का प्रयोग है। जनता इसको पूर्णरूप से समझने और समुचित ढग से प्रयुक्त करने का संकल्प ले तो अहिंसा की प्रतिरोधात्मक शक्ति चामत्कारिक प्रभाव स्थापित कर सकती है।

प्रश्न : क्या अहिसक शक्तियो में सगठन सभव है? यदि है तो उसका व्यावहारिक रूप क्या हो सकता है?

उत्तर : हिसक शक्तियो मे सगठन हो सकता है तो अहिसक शक्तियो मे वह असभव क्यो होगा? 'सरिसो सरिसेण रज्जइ'—हर व्यक्ति अपनी विचारधारा के लोगो मे रहकर खुश होता है। एक अहिसक व्यक्ति या अहिसा में निष्ठा रखने वाली सस्था वैसे व्यक्तियो और संस्थाओं के साथ सहज भाव से मेल-जोल बढा सकती है। अहिंसक व्यक्तियो के काम करने की प्रक्रिया में अन्तर हो सकता है। क्योंकि कुछ मुद्दो पर उनमें विचार-भेद रहना स्वाभाविक है। इस स्थिति में संगठन को सशक्त बनाने का व्यावहारिक रूप है अनाग्रही मनोवृत्ति। जिन मुद्दो पर विचार-भेद हो, उन्हे प्रधानता न दी जाए। अभेद को मुख्य मानकर सयुक्त रूप से उनकी क्रियान्विति का प्रयास किया जाए। एक चिन्तन या कार्य को अनेक व्यक्तियों का बल मिलेगा, तब वह सहज रूप से व्यवहार्य बन जायेगा। एक काम मे सफल होने के वाद मन

का उत्साह प्रबल होगा और उन शक्तियो का सगठन अधिक सुदृढ हो जायेगा। मेरे अभिमत से मूल प्रश्न अहिसक शक्तियो के संगठन का नहीं, अहिसा के प्रति सम्पूर्ण निष्ठा का है। ऐसी शक्तियां कम है जिनका अहिसा मे पूरा विश्वास हो। अधूरे विश्वास से जो निष्पत्ति आ सकती है, वही आयेगी। अहिसा में सम्पूर्ण आस्था रखने वाले व्यक्तियो घो ऐसी शक्तियो का निर्माण करना है, उसके बाद सगठन का परिणाम हम सबके सामने होगा।

प्रश्न : हिंसक शक्तिया भिन्न-भिन्न विचारधाराओ के रहते हुए भी संगठित होकर अपना कर्तृत्व दिखा रही हैं। एक विशिष्ट अहिसक धर्मनेता के रूप मे आप अहिसक शक्तियो को सगठित करने की दृष्टि से क्या मार्गदर्शन देगे? क्या इस सम्बन्ध मे कोई योजना आपके चिन्तन में है?

उत्तर : हिसा या हिसक शक्तियो मे जैसी सहारकता है, वैसा कोई चेप भी अवश्य है। उस कारण वे मिल जाती है और सगठित होकर अपने लक्ष्य को साध लेती है। अहिसक शक्तिया अधिक सक्षम होकर भी मिलनसार नहीं है या मिलने में कठिनाई का अनुभव करती है। अहिसक लोगों की अपनी दुर्बलता भी उनके सगठन की बाधा है। इस वाधा को दूर करने के लिए अहिसको को अहिसा की शक्ति पर अखण्ड विश्वास करना होगा। हमारी तो यह निश्चित आस्था है कि निश्चिन्तता से जीने के लिए अहिसक शक्तियों को सगठित होना ही होगा। इनके सगठन से प्रवाहित ऊर्जा हिसा के घरौदो को तोडने में सक्षम हो सकती है।

पिछले दिनो सवाद पढा कि गोर्बाचेव को नजरबन्द कर दिया गया। उनके दो बडे कार्यक्रमों—पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोश्त को जडमूल से समाप्त करने का अभियान चलाया गया। पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोश्त को समाप्त करने का स्वप्न देखने वाले स्वय समाप्त हो गए, यह गोर्वाचेव की आश्चर्यकारी विजय है। प्रतीक्षा एक ही है कि अहिसा को विजयी वनाने वाला समय

कब आए? 'मुहुत्ताणं मुहुत्तेसु मुहुत्तो होइ तारिसो'—विश्व के इतिहास मे कोई क्षण ऐसा आता है, जब कठिन से कठिन काम पूरा हो जाता है और उसका प्रभाव सब लोगो पर होता है। वैसे समय की प्रतीक्षा करने में मेरा विश्वास कम है। किन्तु कुछ कार्य देश और काल की अनुकूलता मे ही सम्भव हो सकते हैं।

प्रश्न : हिसा के प्रतिकार के लिए वैचारिक और भावनात्मक साधन के अलावा क्या किसी अन्य क्रियात्मक साधन का उपयोग किया जा सकता है? आपके पास अहिसक सैनिको की बडी सेना है, क्या इसका उपयोग आतकवाद की समस्या को सुलझाने मे नहीं किया जा सकता?

उत्तर : हिसा का कोई निश्चित चेहरा नही है। वह अनेक रूपो मे राष्ट्र के लिए चुनौती बन रही है। हमने व्यक्तिश अनेक लोगो को समझाने और उनका हृदय-परिवर्तन करने के प्रयोग किये हैं। अनेक डाकुओ ने अपनी जीवन की दिशा बदली है। जेल के सींखचो मे बन्द अपराधियो का मन बदला है। हजारों लोग व्यसन-मुक्त हुए है। इस काम के लिए हमने स्वयं कष्ट सहकर भी अनवरत पदयात्राओ का प्रयोग किया है। आज के अत्यधिक सुविधावादी युग मे ऐसा किया जा रहा है। इससे आगे कोई प्रयोग नहीं हो सकते, यह बात नहीं है।

आतकवाद की समस्या कोई छोटी समस्या नहीं है। इस समस्या का मूलभूत उद्देश्य जब तक पकड मे नहीं आता है, तब तक समाधान की गहराई मे उतरने की बात नहीं बन सकती। पजाब समस्या का मूल ध्यान मे आया तो हमने एक छोटा-सा प्रयास किया। भारत सरकार का सन्त लोगोवाल से समझौता हुआ। उलझी हुई गुत्थियो के बीच एक रास्ता बना। यदि लोगोवाल रहते तो वह रास्ता और अधिक प्रशस्त हो सकता था। पर उनकी हत्या ने एक नयी समस्या खडी कर दी।

हर एक समस्या का समाधान हो ही जाएगा, ऐसी गर्वोक्ति कोई नहीं कर सकता। प्रयास करना हमारा काम है। पंजाब

जैसे अशान्त प्रदेश मे आज भी हमारे साधु-साध्वियो के अनेक वर्ग विहार कर रहे है, वहां के लोगो मे अहिसा एव शाति का प्रचार कर रहे है, प्रेक्षाध्यान के द्वारा हृदय-परिवर्तन की दिशा मे भी प्रयोग चल रहे है।

प्रश्न : हिसात्मक परिस्थिति का अहिसात्मक प्रतिकार करने के लिए व्यक्ति मे किन विशेषताओं का होना अपेक्षित है?

उत्तर : अहिसात्मक प्रतिकार के लिए व्यक्ति मे सबसे पहले असाधारण साहस होना नितात अपेक्षित है। साधारण साहस हिसा की आग देखकर कांप उठता है। जहां मन मे कपन होता है, वहा स्थिति का समाधान हिसा मे दिखायी पडता है। दृष्टिकोण का यह मिथ्यात्व व्यक्ति को हिंसा की प्रेरणा देता है। हिंसा और प्रतिहिसा की यह परम्परा वराबर चलती रहती है। इस परम्परा का अत करने के लिए व्यक्ति को सहिष्णु बनना जरूरी है। सहिष्णुता के अभाव मे मानसिक सतुलन विगड जाता है। मन सतुलित न हो तो अहिसात्मक प्रतिकार की बात समझ मे ही नहीं आती, इसलिए वैचारिक सहिष्णुता की वहुत अपेक्षा रहती है।

कुछ व्यक्ति विरोधी विचारो को सह सकते है, किन्तु उनमे कष्ट-सहिष्णुता नही होती। थोडी-सी शारीरिक यातना से घबराकर वे अपने लक्ष्य से भटक जाते है। यातना की संभावना मात्र से वे विचलित हो जाते है, हिसात्मक परिस्थिति के सामने घुटने टेक देते है। जो व्यक्ति कष्ट-सहिष्णु होते है, वे विषम स्थिति मे भी अन्याय और असत्य के सामने झुकने की बात नहीं करते। ऐसे व्यक्ति अहिसात्मक प्रतिकार मे अधिक सफल होते है। उनकी कष्ट-सहिष्णुता इतनी बढ जाती है कि वे मृत्यु तक का वरण करने के लिए सदा उद्यत रहते है। जिन व्यक्तियो को मृत्यु का भय नही होता, वे सत्य की सुरक्षा के लिए सव कुछ कर सकते है। प्रतिरोधात्मक अहिसा का प्रयोग इन्हीं व्यक्तियो द्वारा किया गया है।

प्रश्न : जिन राष्ट्रो की सस्कृति मे विरासत से अहिसा के वीज नहीं

आज पूरे विश्व पर पर्यावरणीय असतुलन का संकट मडरा रहा है। जो कुछ है, वह सबको प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। फिर भी प्रकृति का अन्धाधुन्ध दोहन किया जा रहा है।

एक समय था, जब अहिसा का मूल्य आत्मशुद्धि और मोक्ष की दृष्टि से था। किन्तु जब से पर्यावरणीय असंतुलन वढने लगा है, जीने के लिए अहिसा आवश्यक हो गई है। पर्यावरण को सतुलित रखने के लिए अथवा अपने अस्तित्व को बचाने के लिए अहिसा का प्रयोग जरूरी है। जैन तीर्थकरो ने कहा है—**अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए**—संसार के सब जीवो को अपनी आत्मा के समान समझो। किसी भी जीव की हिसा अपनी हिसा है। चलने-फिरने वाले प्राणियो के प्राणापहार की तो बात ही क्या, यहा तक कहा गया है—**'तणरुक्खं न छिंदेज्जा'**—किसी तृण और वृक्ष का छेदन मत करो। उनकी पीडा को अपनी पीडा समझो। **'पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं नेव भिंदे न संलिहे'**—पृथ्वी, भित्ति, शिला और ढेले का न भेदन करे और न उन्हे कुरेदे। प्रकृति के कण-कण के प्रति जागरूकता ही सबसे वडी अहिसा है।

जैन आगमो मे जीवो के सयम की बात कहकर ही विराम नहीं दिया गया। वहा अजीवकाय सयम की वात भी आती है। जड पदार्थो की भी अनावश्यक छेडछाड न की जाए। इन वातो को उपदेश के रूप मे प्रस्तुति देने से पर्यावरण का असतुलन दूर नहीं होगा। उसके लिए तो अहिसा के प्रशिक्षण की वात शिक्षा के साथ जोडनी होगी। विद्यार्थियो को प्रारम्भ से ही सिखाया जाए कि उन्हे पृथ्वी, पानी, बिजली, हवा आदि का अपव्यय नही करना है, किसी को नहीं सताना है, सयम से जीवनयापन करना है। इन सिद्धातो का ज्ञान कराने के साथ प्रायोगिक रूप से उनको सयम से जीने की कला सिखा दी जाए तो विश्व की ज्वलत समस्या के समाधान मे अहिसा की भूमिका स्वत ही स्पष्ट हो सकती है।

प्रश्न : देश मे निर्माण की चर्चा जितना वल पकड रही है, उतना ही

जो प्रवाह चल रहा है, वह इतना तीव्रगामी है कि छोटे प्रयास से उसमे बदलाव की सभावना नही की जा सकती।

प्रश्न : आदमी आज इतना क्रूर और हिसक क्यो हो गया है? क्या उसके स्वभाव को बदला नहीं जा सकता?

उत्तर : बदलाव की सभावना न हो तो उपदेश, प्रशिक्षण और प्रयोग का कोई अर्थ ही नही रहे। आदमी को बदला जा सकता है, इसी विश्वास के आधार पर चारो ओर प्रयत्न हो रहे हैं। इन प्रयत्नो का कोई प्रभाव नहीं है, यह बात भी नही है।

रही क्रूरता और हिसा की बात। लोगो को लगता है कि ये वर्तमान युग की देन है। अतीत पर नजर डाले और देखे कि किस युग का आदमी क्रूर नहीं था? हिसक नहीं था? मात्रा मे कमी-बेसी होती रहती है। अहिसा की तरह हिसा और क्रूरता भी एक सचाई है, शाश्वत सचाई है। जब इस वृत्ति को उत्तेजना अधिक मिलती है, वह उभर जाती है, नये-नये रूप धारण कर लेती है। आज पूरा वातावरण ही ऐसा हो रहा है। समाचार-पत्र, रेडियो, टी॰ वी॰ आदि सचार-साधन दिन-रात इसी के समाचार देते है। एक वर्ष के लिए ही सही, ऐसे समाचारो पर पूरी तरह से प्रतिबध लगाकर देखा जाए कि उसका क्या परिणाम आता है। जब तक मनुष्य का केवल बौद्धिक विकास होता रहेगा और उसे सयम, सहिष्णुता आदि मूल्यो को जीने का रास्ता नही मिलेगा, समस्या का समाधान नही हो पाएगा।

प्रश्न : पर्यावरण-असतुलन वर्तमान विश्व की ज्वलततम समस्या है। अहिसा की प्रयोगभूमि से उसके समाधान का व्यावहारिक रूप क्या हो सकता है?

उत्तर : पर्यावरण-सतुलन की जितनी चर्चा है, उतनी चिन्ता नहीं है। मनुष्य की यह आदत बन गई है कि वह किसी भी समस्या के सदर्भ मे बाते तो करता है, पर समाधान नहीं खोजता। उसे किसी प्रकार का समाधान सुझाया भी जाता है तो वह उस पर अमल नहीं करता। प्रश्न किसी व्यक्ति, समाज या देश का नहीं है।

आज पूरे विश्व पर पर्यावरणीय असंतुलन का सकट मडरा रहा है। जो कुछ है, वह सबको प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। फिर भी प्रकृति का अन्धाधुन्ध दोहन किया जा रहा है।

एक समय था, जब अहिंसा का मूल्य आत्मशुद्धि और मोक्ष की दृष्टि से था। किन्तु जब से पर्यावरणीय असंतुलन बढने लगा है, जीने के लिए अहिसा आवश्यक हो गई है। पर्यावरण को सतुलित रखने के लिए अथवा अपने अस्तित्व को बचाने के लिए अहिसा का प्रयोग जरूरी है। जैन तीर्थकरो ने कहा है—**अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए**—संसार के सब जीवो को अपनी आत्मा के समान समझो। किसी भी जीव की हिसा अपनी हिसा है। चलने-फिरने वाले प्राणियो के प्राणापहार की तो बात ही क्या, यहा तक कहा गया है—**'तणरुक्खं न छिंदेज्जा'**—किसी तृण और वृक्ष का छेदन मत करो। उनकी पीडा को अपनी पीडा समझो। **'पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं नेव भिंदे न संलिहे'**—पृथ्वी, भित्ति, शिला और ढेले का न भेदन करे और न उन्हे कुरेदे। प्रकृति के कण-कण के प्रति जागरूकता ही सवसे बडी अहिसा है।

जैन आगमो मे जीवो के सयम की बात कहकर ही विराम नहीं दिया गया। वहा अजीवकाय सयम की वात भी आती है। जड पदार्थो की भी अनावश्यक छेडछाड न की जाए। इन वातो को उपदेश के रूप मे प्रस्तुति देने से पर्यावरण का असतुलन दूर नहीं होगा। उसके लिए तो अहिसा के प्रशिक्षण की बात शिक्षा के साथ जोडनी होगी। विद्यार्थियो को प्रारम्भ से ही सिखाया जाए कि उन्हे पृथ्वी, पानी, बिजली, हवा आदि का अपव्यय नहीं करना है, किसी को नहीं सताना है, सयम से जीवनयापन करना है। इन सिद्धातो का ज्ञान कराने के साथ प्रायोगिक रूप से उनको सयम से जीने की कला सिखा दी जाए तो विश्व की ज्वलत समस्या के समाधान मे अहिसा की भूमिका स्वत ही स्पष्ट हो सकती है।

प्रश्न : देश मे निर्माण की चर्चा जितना वल पकड रही है, उतना ही

अधिक ध्वस बढ रहा है। इसका मूल कारण क्या है? और उसका समाधान कैसे किया जा सकता है?

उत्तर : ध्वंस और निर्माण—ये दो विरोधी दिशाएं है, फिर भी सापेक्ष हैं। ध्वंस न हो तो निर्माण की चर्चा भी न होगी। इसलिए इस प्रश्न को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि ध्वंस का वातावरण प्रबल है, इसलिए निर्माण का स्वर मुखरित है। दूसरी बात यह है आज सही माने मे निर्माण की चिता है किसे? निर्माण की बातें करने से निर्माण नहीं होगा। इसके लिए रचनात्मक प्रवृत्तिया अपेक्षित रहेगी। इसलिए निर्माण की चर्चा को केवल चर्चा तक ही सीमित न रखकर उसको रचनात्मक रूप दिया जाए। दूसरी बात—लोगो मे यह आदत बन जाती है कि वे हर युग मे अपने समय को कोसते रहते हैं। आज से सौ साल पहले लोग कहते थे कि समय बहुत बुरा है। और सभव है सौ साल बाद भी यही कहेगे। किन्तु मै यह अनुभव करता हूं कि आज हर क्षेत्र में निर्माण हो रहा है। युग-चेतना सुषुप्त नहीं है। इसलिए ध्वस की बात छोडकर केवल निर्माण के सबध मे ही सोचे, ध्वंस स्वयं ध्वस्त हो जायेगा।

प्रश्न : आज आतंकवाद के क्षेत्र मे अपहरण की नई संस्कृति तेजी के साथ पनप रही है। आपकी दृष्टि मे इसका मूल कारण क्या है? उसका समाधान कैसे किया जा सकता है?

उत्तर : अपहरण की संस्कृति सत्ता और सम्पदा की आकाक्षा का फलित है। सत्ता हथियाने के लिए और सम्पदा वटोरने के लिए आतंकवाद अस्तित्व मे आया। शस्त्रशक्ति और आतंकवाद के सघन प्रशिक्षण से एक वर्ग में क्रूरता पनपी। उस क्रूरता की अभिव्यक्ति है अपहरण की संस्कृति। किसी राजनयिक या महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का अपहरण कर उसकी फिरौती मे अनेक आतंकवादियो की रिहाई और सम्पन्न व्यक्ति की फिरौती मे लाखों रुपये वसूलने का मनोभाव अपहरण की मूलभूत प्रेरणा है।

आतकवाद या अपहरण-नीति की पृष्ठभूमि मे कई कारण

हो सकते हैं। उनमें एक कारण है आर्थिक विषमता। कहीं-कहीं वैषम्य इतना अधिक है कि एक ही स्थान पर स्वर्ग और नरक दोनो को देखा जा सकता है। एक व्यक्ति के पास अट्टालिकाएं हैं, दूसरे व्यक्ति के सिर पर छत भी नहीं है। वह अपनी जिन्दगी फुटपाथ पर बिताता है। एक ओर भोजन पचाने के लिए गोली खानी पडती है, दूसरी ओर पेट पालने के लिए पूरा भोजन नहीं मिलता। एक ओर दिन मे चार बार ड्रेस का परिवर्तन होता है तथा तीन सौ साठ दिनों के लिए दिनो की संख्या से भी अधिक ड्रेसेज होती है। दूसरी ओर तन ढकने के लिए पूरा वस्त्र नहीं मिलता। यह विषमता विद्रोह को जन्म देती है।

विद्रोही व्यक्ति क्रूर बन जाता है। क्रूरता सीमा को पार कर जाती है तो व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। प्राचीन काल मे राहजनी और हत्या जैसे अपराध होते थे। इस दिशा में मनुष्य नए-नए रास्ते खोजता जा रहा है। उसका अभिमत है कि अपहरण में खतरे कम हैं और लाभ अधिक हैं। लोगो की दृष्टि मे यह एक सीधा-सरल व्यवसाय हो गया है। एक-दो बार की सफलता व्यक्ति का हौसला बढा देती है। इस सस्कृति ने मनुष्य की निश्चिन्तता और निर्भयता समाप्त कर दी।

कोई भी बीमारी बढ़ जाती है, उग्र रूप धारण कर लेती है तो उसे मिटाने मे जोर पडता है। समय, श्रम और अर्थ लगाने पर भी बीमारी मिटे या नहीं, कोई गारटी नहीं है। अपहरण की सस्कृति भी एक ऐसी ही असाध्य बीमारी का रूप लेती जा रही है। बीमारी मिटे या नहीं, प्रयत्न करना जरूरी है। जैनदर्शन में अवसर्पिणी काल का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार श्रेष्ठताओ का उत्तरोत्तर ह्रास होता जाता है। वह हमे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। इस स्थिति में मनुष्य सादगी, श्रम और संयम का पाठ पढ़े। जन-जन के मन मे अहिसा और आत्मसंयम के सस्कार जागे, यही इस समस्या का समाधान हो सकता है।

प्रश्न : पजाब में हिसा और आतंक [illegible] है। प्रतिदिन जितने लोग

मारे जाते हैं, उनका हिसाब रखना भी कठिन है। कश्मीर तथा कुछ अन्य स्थानों पर भी यह समस्या विकराल बनती जा रही है। क्या इसके समाधान हेतु आपने कोई प्रयत्न किया है?

उत्तर : जिन दिनों पंजाब की समस्या काफी उग्र थी। ऑपरेशन ब्लू स्टार और उसके बाद इन्दिराजी की हत्या ने आग में घी का काम किया। उस समय हमने एक छोट-सा प्रयत्न किया था। संत लोगोवाल को हमने याद किया। श्री शुभकरण दसानी के प्रयास से वे सुरजीतसिंह बरनाला के साथ मेवाड के आमेट कस्बे मे आए। यहां दो दिन रहे। उनके साथ पंजाब समस्या पर गभीर चर्चा हुई। वे सरकार के साथ बात करने के मूड मे नहीं थे। हमारी प्रेरणा से उनका मन बदला। उन्होने दिल्ली मे प्रधानमंत्री से बात की। समझौता हुआ। बीच मे ही संत लोगोवाल की हत्या हो गई। उसके कारण समझौता लागू नहीं हो सका। उसके बाद तो पंजाब की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। हमारे साधु-साध्वियां इस स्थिति मे भी वहां काम कर रहे हैं।

हिंसा और आतक की समस्या केवल पजाव या कश्मीर तक सीमित नहीं है। पूरा विश्व इससे प्रभावित है। इसके समाधान की दिशा मे जो उपाय कारगर हो सकते है, उनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपाय है, अहिसा का प्रशिक्षण। प्रशिक्षण की प्रक्रिया शिक्षा के साथ जुड जाए तो युवापीढी की ब्रेनवासिंग हो सकती है और उसे हिसा के सस्कारो से मुक्त किया जा सकता है।

प्रश्न : महात्मा गाधी ने स्वाधीनता आन्दोलन मे अहिसा का सफल प्रयोग किया था। वह संघर्ष विदेशी सत्ता से था। आज कश्मीर, पंजाव और असम को आतकवाद से मुक्त कराने के लिए अहिसक समाधान क्या हो सकता है?

उत्तर : महात्मा गाधी का एक सपना था। उनके सामने एक लक्ष्य था—राष्ट्र की स्वाधीनता। उनके मन मे लक्ष्य-प्राप्ति के लिए मर-मिटने का हिमालयी सकल्प था। हंसते-हसते मर जाना, पर मारने वालों पर अश मात्र भी आक्रोश नहीं करना, कितनी वडी

साधना है!

ऐसी ही साधना के लिए देश के एक बडे वर्ग को संकल्पित होना पडेगा। आतकवाद का जहा तक सवाल है, वह किसी एक प्रदेश या देश तक सीमित नहीं है। पूरे विश्व मे यत्र-तत्र वह सिर उठा रहा है। उसके प्रतिरोध में व्यापक अभियान जरूरी है। नामाकित प्रदेशों की समस्या को समाहित करने के लिए एक लक्ष्यबद्ध और योजनाबद्ध कार्यक्रम चलाना होगा। इसके लिए बलिदानी मनोवृत्ति वाले उत्साही लोग हों और उनका नेतृत्व महात्मा गाधी जैसे व्यक्तित्व के हाथ में हो तो आज भी संभावनाओ का सूरज अस्त नहीं हुआ है। एक ओर निष्ठाशील, निष्काम, तटस्थ और प्रभावशाली व्यक्ति के नेतृत्व मे अहिसात्मक प्रयोग हो, दूसरी ओर आतंकवाद से जुडे लोगो के हृदय-परिवर्तन का प्रयास हो तो यह प्रयोग एक असाधारण प्रयोग हो सकता है। शर्त एक ही है कि इस कार्यक्रम से जुडने वाले सब लोगो की अहिसा मे गहरी आस्था हो और उसका उचित प्रशिक्षण हो।

प्रश्न : पजाब मे आपकी रुचि रही है। वहा फिर हिसा भडक उठी है। क्या आप पुन किसी शान्ति-प्रयास मे लगे है?

उत्तर : हमारी रुचि केवल पजाब मे ही नहीं, हर क्षेत्र मे रही है। जहा कहीं हिसा उग्र रूप लेती है, हम अपनी सीमा मे रहते हुए काम करना चाहते है। वैसे छोटी-मोटी हिसक वारदाते तो किसी भी क्षेत्र में होती रहती है। उनको तूल नहीं देना चाहिए। सामान्यत हर प्रदेश की सरकार उन वारदातो को रोकने के लिए अपेक्षित कदम उठाती ही है।

प्रश्न : देश मे हिसा की प्रवृत्ति बढ रही है। पूर्व प्रधानमत्री श्री राजीवगाधी की हत्या हिसा की क्रूरतम पराकाष्ठा थी। आपकी दृष्टि मे इसका समाधान क्या हो सकता है?

उत्तर : देश मे हिसा बढ रही है सो तो बढ ही रही है। बढेगी क्यो नही? जब तक हिसा के उपकरण तैयार होते रहेगे, उनका प्रयोग होता रहेगा और हिसा का प्रशिक्षण मिलता रहेगा, तब तक वह

रुकेगी कैसे? राजीव गाधी हो या और कोई, इस प्रकार की जघन्य हत्याओं की कल्पना से ही सिहरन हो सकती है। लगता है, मानवता का जनाजा निकल गया है।

हिसा की समस्या को सुलझाने के लिए अहिंसा को शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता है। अहिसा पर गहरी शोध हो। उसके प्रयोग और प्रशिक्षण की व्यवस्था हो। युवापीढी को इस प्रशिक्षण के साथ विशेष रूप से जोडा जाए तो अहिसा के पक्ष में सशक्त वातावरण बन सकता है। इस वर्ष (सन् १९९१) फरवरी माह में समायोजित पंच दिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे हमने अहिंसा के प्रशिक्षण की योजना प्रस्तुत की थी। यदि उसे शिक्षा के साथ नत्थी कर दिया जाए तो अहिंसा की शक्ति या तेज प्रकट हो सकता है।

प्रश्न : गुजरात की घटनाओ को अहिसा की विजय मानना चाहिए या हिंसा की? यदि उसे हिसा की विजय माना जाता है तो क्या अहिंसा के प्रति हमारी आस्था खंडित नहीं होती?

उत्तर : पिछले दिनो गांधीजी की तपोभूमि गुजरात में लम्बे समय तक सघर्ष की स्थिति रही। छात्रो के नेतृत्व में एक आन्दोलन चला। आन्दोलनकारी अपने उद्देश्य मे सफल हुए। उन्होने जैसा सोचा और जैसा कहा, वैसा करके दिखा दिया। आन्दोलनकारियों ने अपनी विलक्षण संघर्ष-पद्धति से देश के समक्ष एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया। इससे राज्य सरकार को बहुत बड़ी चुनौती मिली। बहुमत से जीतने वाली सरकार के स्थायित्व मे सदिग्धता उत्पन्न हुई और उन लोगों की अस्मिता पर ठेस लगी, जो बहुमत के आधार पर विजयी होकर मनमानी करने के पक्ष में थे।

इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि मे मूल प्रेरणा अहिंसा की रही, विरोधी पार्टी के नेताओ की रही अथवा अभाव, महगाई आदि परिस्थितियो की रही, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। छात्रो ने साहस का परिचय दिया। तटस्थ और अहिसावादी व्यक्तियो का समर्थन इन्हे प्राप्त हुआ तथा रविशंकर महाराज

जैसे सतपुरुष द्वारा इनका समर्थन देखकर लगता है कि गुजरात के छात्र-आन्दोलन में कोई गहरी बात थी।

इस आन्दोलन में विजय हिंसा की हुई या अहिसा की, यह अहम बात नहीं रही। हिंसा और अहिसा दोनो की अपेक्षा यहां परिस्थितियो को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। केन्द्रीय सरकार ने विधान सभा भंग करने का कदम उठाया। क्योकि उसके सामने दूसरा समाधायक विकल्प नहीं था। परिस्थितिजन्य विवशता में सिद्धान्त की बात गौण हो जाती है और वर्तमान को संतुलित रखना मुख्य हो जाता है। आन्दोलनकारियों का उद्देश्य हिंसा नहीं था, फिर भी उन्होने हिंसा का सहारा लिया। इसलिए उनके आन्दोलन को अहिंसात्मक नहीं कहा जा सकता। एक दृष्टि से वह हिसा और अहिंसा का मिला-जुला प्रयोग था।

अब मुख्य प्रश्न यह है कि ऐसी घटनाओ से अहिंसा के प्रति जमी हुई आस्था खडित हो जाती है। आस्था के खडित होने का प्रसंग तब आता है, जब समग्र रूप से अहिंसात्मक आन्दोलन चले और अहिसा की विजय न हो। जहां अहिसा का स्वीकार ही न हो, वहां उसकी पराजय कैसी? अहिसानिष्ठ व्यक्ति अपनी आस्था मे संदेह नहीं करके अहिसा का प्रयोग करे तो उसका परिणाम आ सकता है।

मैं सोचता हू कि यदि गुजरात के छात्र अपने आन्दोलन को सपूर्ण रूप से अहिसात्मक ढंग से चला पाते तो इसकी निष्पत्ति कोई दूसरी ही होती। ऐसा करके वे न केवल गुजरात बल्कि समूचे राष्ट्र के सामने एक अभिनव उदाहरण रख सकते थे। किन्तु ऐसा होना बहुत कठिन है। इसके लिए घनीभूत आस्था, नि:स्वार्थ मनोवृत्ति और बलिदान होने की तीव्र भावना बहुत ही आवश्यक है।

प्रश्न : देश के विभिन्न क्षेत्रो में साम्प्रदायिक दंगे, हडताले, भाषायी विवाद आदि चल रहे है। सरकार अपनी शक्ति से उन्हें दबाने का प्रयत्न करती है। यह हिंसा को हिसा से दबाने का एक उपक्रम

है। ऐसी स्थिति में अहिंसा किस प्रकार कारगर हो सकती है?

उत्तर : आचारांग का एक सूक्त है—'अत्थि सत्थ परेण परं नत्थि असत्थं परेण परं'—शस्त्र अर्थात् हिंसा में परम्परा रहती है, अशस्त्र मे कोई परम्परा नहीं है। हिसा को हिसा से दबाने का प्रयत्न हिसा को प्रोत्साहन देना है। एक व्यक्ति या वर्ग की हिंसात्मक मनोवृत्ति दूसरे व्यक्ति या वर्ग को हिसा की प्रेरणा देती है। हिंसात्मक प्रतिकार से हिसा की भावना अधिक प्रबल होती है। आज सरकार और जनता के बीच जो संघर्ष चल रहा है, उसका मूल बीज हिसा मे निहित है। जनता सरकार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए हिंसा का सहारा लेती है और सरकार अपनी प्रभुसत्ता बनाए रखने के लिए हिसा का सहारा लेती है। इस क्रम से न जनता शान्ति से जी सकती है और न सरकार निश्चिन्त रह सकती है। निश्चिन्तता और सुख-शान्ति के लिए अहिसा की शरण मे जाना जरूरी है।

हिसा के प्रतिरोध मे अहिंसक शक्ति तव ही खडी रह सकती है जब अहिसानिष्ठ व्यक्ति अहिसा के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो। केवल वैधानिक समर्पण के आधार पर कोई भी समर्पण सफल नहीं हो सकता। इस समर्पण से न तो अहिसा का वर्चस्व बढ़ सकता है और न वह कारगर ही हो सकती है। अहिसा को कारगर बनाने के लिए अहिसा के शुद्ध स्वरूप को समझा जाए, उसके माध्यम से समाधान खोजा जाए और हिंसा-जनित परिस्थितियो के आगे घुटने न टेके जाए तो आज भी अहिसा में वह क्षमता है कि वह इस शस्त्र-परम्परा को समाप्त कर मैत्री-भाव से हर समस्या को समाहित कर सकती है।

प्रश्न : आपने प्रेक्षाध्यान द्वारा हृदय-परिवर्तन की वात कही। आतकवाद जैसी जटिल समस्या का हल क्या हृदय-परिवर्तन से हो पाएगा?

उत्तर : किसी भी समस्या को अन्तहीन या असाध्य मानकर हाथ पर हाथ धरे वैठे रहना अच्छी बात नहीं है। जहा तक आतकवादियो के हृदय-परिवर्तन का प्रश्न है, यह एक उपाय है। हृदय-परिवर्तन

का प्रयोग भी तभी सफल हो पाता है, जब सामने वाला व्यक्ति स्वयं बदलना चाहे। बदलाव मे व्यक्ति की आस्था हो और प्रयोग करने वाले की संकल्पशक्ति भी दृढ हो तो सफलता असदिग्ध है। पर दोनो मे से एक पक्ष भी दुर्बल हो जाए तो सफलता दूर खिसक जाती है। हृदय-परिवर्तन की बात करने वालो के पास कोई ऐसा जादू नहीं होता, जो हाथोहाथ व्यक्ति को बदल दे।

प्रश्न : पंजाब समझौते मे आपकी भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। क्या यह सच है कि आपने आमेट-प्रवास के दौरान सत हरचन्दसिह लोंगोवाल को उपदेश देकर उनका हृदय-परिवर्तन करने का प्रयास किया था?

उत्तर : यह सही है कि सन्त हरचन्दसिह लोगोवाल आमेट आए थे। उनके साथ घटो तक हमारी बातचीत हुई। वार्तालाप के बाद उनकी मानसिकता बदली, यह भी प्रसिद्ध बात है। उन्होने स्वय अपनी अनेक सभाओ में इस बात का उल्लेख किया था। वे आए और गए। इस अवधि में उनके विचारो मे जो बदलाव आया, उससे वे खुद विस्मित थे।

प्रश्न : क्या धर्मप्रचारकों और सयुक्त राष्ट्रसघ के सयुक्त प्रयत्न से विश्वशाति और मानवाधिकार की सुरक्षा के सन्दर्भ में कुछ नए और ठोस कदम उठाए जा सकते है?

उत्तर : हमारा चिन्तन यह है कि कोई भी महत्त्वपूर्ण काम किसी एक व्यक्ति या वर्ग से नहीं हो सकता। उसके लिए समन्वित प्रयत्नो की अपेक्षा है। सयुक्त राष्ट्रसंघ और धर्मप्रचारक ही क्यो, देश के अन्य वर्ग भी सही उद्देश्य से एक काम मे अपनी भागीदारी निभाए तो वह कम समय मे पूरा हो सकता है।

हमने अनेक बार कहा है कि कुछ धर्मगुरु, व्यवसायी, पत्रकार, वैज्ञानिक, शिक्षाशास्त्री, उच्चस्तरीय राजनयिक और सयुक्त राष्ट्रसघ मिलकर चिन्तन करे। कम से कम साप्ताहिक चिन्तन कर निष्कर्ष निकाले तो नई बात सामने आ सकती है। सामूहिक चिन्तन और प्रयत्न से जो काम हो सकता है. वह

किसी अकेले व्यक्ति या वर्ग से कैसे हो सकता है? कानून ने अपनी शक्ति का परीक्षण कर लिया। राज्यसत्ता प्रायः अकिंचित्कर रहती है। अकेले धर्मगुरु कुछ, कर पाएगे, ऐसी संभावना नहीं लगती। ऐसी स्थिति में सहचिन्तन का मार्ग काफी प्रशस्त हो सकता है। योगक्षेम वर्ष के गीत में हमने कहा था—

कोरी आध्यात्मिकता युग को प्राण नहीं दे पाएगी,
कोरी वैज्ञानिकता युग को त्राण नहीं दे पाएगी,
दोनों की प्रीति जुडेगी, युगधारा तभी मुडेगी,
क्या-क्या पाना है? पहले आंक लो।
ओ सन्तो! क्या-क्या पाना है? गहरे झाक लो॥

विश्वशांति और मानवाधिकार की सुरक्षा ही नहीं, अनेक उलझे प्रश्नो को चिन्तन का मुद्दा बनाया जाए और उनका समाधान खोजा जाए तो मनुष्य अपने लिए और अपनी भावी पीढी के लिए कुछ ठोस उपलब्धियां कर सकता है।

प्रश्न : एक ओर पूरे विश्व में हिसा के बादल मडरा रहे है। विविधमुखी प्रयासो के बाद भी खाडी युद्ध को टाला नहीं जा सका। युद्ध की समाप्ति के बाद भी युद्ध-स्थिति को बनाए रखने की कशमकश चल रही है। दूसरी ओर आपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाकर अहिसा के प्रशिक्षण की चर्चा की। वर्तमान विश्व की परिस्थितियो मे राजसमन्द घोषणापत्र की कोई प्रासगिकता है क्या?

उत्तर : युद्ध सामयिक परिस्थिति की देन है। सामान्यत. कोई भी राष्ट्र युद्ध नहीं चाहता। पर अधिकार की भावना जब आवेश का रूप धारण करती है तो उसकी परिणति युद्धोन्माद के रूप मे होती है। युद्ध के सदर्भ मे अहिंसा की बात अप्रासगिक हो सकती है। पर अहिसा की चेतना सब सन्दर्भो से दूर हटने के बाद भी सदा प्रासंगिक रहती है। जीवन का प्रत्येक पक्ष अहिंसा से जुड़ा हुआ है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी मोर्चो पर अहिसा की प्रासगिकता है। अपेक्षा

एक ही है कि उसकी शक्ति को प्रयोग की सही दिशा मिले।

हिसा की शक्ति अहिसा की शक्ति से अधिक है, ऐसा मै नही मानता। पर इतना अवश्य मानना पडता है कि हिसा को प्रशिक्षण और प्रयोग की अपेक्षित भूमिका प्राप्त है। आतकवाद को ही लिया जाए, यह हिसा का एक रूप है। मुट्ठी भर आतकवादियो की शक्ति प्रशासन और जनता—सबके छक्के छुडा रही है। क्या अहिसक शक्ति के पास इसका कोई प्रतिकार नही है? नि संदेह अहिसा की शक्ति अमाप्य है। यदि उसके प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था हो और उसमे सातत्य हो तो अद्भुत काम हो सकता है।

अहिसा के प्रशिक्षण से पहले उसके प्रति प्रगाढ विश्वास भी आवश्यक है। विश्वास के बिना कुछ भी होने का नहीं है। मेरा तो यह अभिमत है कि हिंसा के प्रशिक्षण और प्रयोग मे जितनी शक्ति लग रही है, उससे आधी शक्ति भी अहिसा पर लगे तो उसका वर्चस्व बढ सकता है। पर लगाए कौन? धार्मिक लोग भी इस दिशा मे सक्रिय नहीं है, फिर आम आदमी तो इसकी चिन्ता करेगा ही क्यो?

भगवान महावीर ने गृहस्थ को निरपराध प्राणी की हत्या से उपरत रहने का निर्देश दिया, यह भी अहिसा का एक प्रयोग है। मनुष्य इस छोटे-से प्रयोग को स्वीकार कर ले तो भी हिसा मे बहुत कमी आ सकती है।

इस ससार से हिंसा कभी समाप्त नहीं होगी, इस सचाई को सामने रखकर भी अहिंसा के प्रशिक्षण पर प्रश्नचिह्न नही लगाया जा सकता। हिसा समाप्त हो या नहीं, उसमे कमी की जा सकती है। यही मानवता के हित मे है। इसके लिए सोचे जा रहे कार्यक्रमो मे प्रशिक्षण का कार्यक्रम एक कारगर उपाय है। हमे इसके परिणामो के प्रति आश्वस्त रहना चाहिए।

प्रश्न : राजसमन्द इण्टरनेशनल कान्फ्रेन्स मे आपने अहिसा के प्रशिक्षण की बात रखी थी। उसका प्रायोगिक स्वरूप क्या हो सकता है?

उत्तर : अहिसा का उपदेश बहुत हुआ है, होता है। किसी को मत मारो, किसी को मत सताओ, किसी पर हुकूमत मत करो, किसी को बलात् अपने अनुशासन में मत रखो, किसी का अंग-भग मत करो, किसी का हक मत छीनो—यह अहिसा का नेगेटिव रूप है।

सबके साथ मैत्री करो, समता की साधना करो, सबके प्रति समदृष्टि रखो, सहिष्णुता का विकास करो, सद्भाव की वृद्धि करो आदि अहिंसा का पोजिटिव रूप है।

अहिसा के इस औपदेशिक स्वरूप को प्रायोगिक रूप कैसे मिले? इस प्रक्रिया के प्रस्तुतीकरण का क्रम ही आगे चलकर प्रशिक्षण के साथ जुड जाता है। ऊपर वर्णित सब बिन्दुओ का वैयक्तिक या सामूहिक रूप में अभ्यास किया जाए, कराया जाए और प्रत्येक परिस्थिति मे सन्तुलन रखा जाए तो प्रशिक्षण का स्वरूप प्रभावी बन सकता है।

सैनिको के प्रशिक्षण शिविर चलते है। उनमे सैनिको को शस्त्र-प्रयोग करना सिखाया जाता है। साथ-साथ यह भी सिखाया जाता है कि मरने का प्रसंग उपस्थित होने पर भी पीछे नहीं हटना है। यह बात उनके रोम-रोम मे रमा दी जाती है। यह प्रशिक्षण समाज एव राष्ट्र की रक्षा के लिए दिया जाता है।

अहिसा का प्रशिक्षण आत्मरक्षा, अध्यात्मरक्षा अथवा मानवीय मूल्यो की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। 'मरण धार सुध मग लियो', 'मार सके मारै नहीं ताको नाम मरद' आदि वाक्य हमारे लिए आदर्श हैं। शान्ति और समभाव से मरना भी एक प्रकार की तपस्या है, इस आस्था के साथ प्रतिकूल परिस्थितियों का मुकाबला करना अहिसा के प्रशिक्षण का एक प्रयोग है। इसी श्रृखला मे प्रयोग की कुछ और कडिया जुड सकती है। पर ये प्रयोग तभी सफल हो सकते है, जव अहिसा मे प्रगाढ आस्था हो और जीवन की आसक्ति क्षीण हो।

प्रश्न : युद्ध और हिसा पर भव्य सम्मेलन करके प्रस्ताव तो पारित कर दिए जाते है, पर व्यावहारिक रूप से हृदय-परिवर्तन के प्रयत्न

क्यों नहीं हो पा रहे हैं? क्या इस सन्दर्भ मे आपके पास कोई योजना है?

उत्तर : केवल प्रस्ताव पारित करने मे हमारा विश्वास नहीं है। इसीलिए विगत फरवरी मे सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे विश्वशाति, युद्ध या हिसा को लेकर कोई बड़ी चर्चा नही की। हमारा उद्देश्य था—'अहिंसा का प्रशिक्षण'। युद्ध तात्कालिक समस्या है। युद्ध क्यो होता है? उसके मूल तक पहुचकर ही उसकी संभावना को समाप्त किया जा सकता है। अहिसा के शोध एव उसके प्रयोग की आवश्यकता का अनुभव होना भी बहुत जरूरी है। इस दृष्टि से सम्मेलन मे अहिंसा के प्रशिक्षण की योजना पर विस्तार से चर्चा हुई। आश्चर्य की बात है कि प्रशासन, अध्यापन, पत्रकारिता आदि अनेक विषयों की ट्रेनिंग दी जाती है। पर जीवन-मूल्यो की उपेक्षा हो रही है। अहिंसा एक ऐसा जीवन-मूल्य है, जिसका समुचित प्रशिक्षण दिया जाए तो हृदय-परिवर्तन की घटनाए सहज रूप मे घटित हो सकती है।

प्रश्न : कहा जा रहा है कि न्याय न मिलने पर जगह-जगह लोग बन्दूक की भाषा मे बात करने लगे है। लोगो को समय पर न्याय दिलवाने की क्या व्यवस्था हो?

उत्तर : न्याय न मिलना समस्या का एक पक्ष हो सकता है। पर देखना यह है कि न्याय का अर्थ क्या है? इतने वडे देश मे सबकी मनोकामनाएं पूर्ण हो जाएं, यह सभव नही लगता। फिर किसे कितना न्याय मिला, इसका निर्णय कौन करेगा?

एक आदमी ने खुदा से न्याय की माग की। मूसा आया और बोला—'न्याय नहीं, खुदा की बंदगी मांगो।' वह नही माना और कहता रहा—'मुझे तो न्याय चाहिए।' इस पर मूसा बोला—'देखो, तुम शिला के ऊपर बैठे हो और शिला तुम्हारे नीचे है। न्याय चाहते हो तो तुम नीचे हो जाओ और शिला तुम्हारे ऊपर आ जाएगी।' यह बात सुन वह घबरा गया और उसने मूसा की मिन्नत करते हुए कहा—'मुझे कुछ नहीं चाहिए।

मै जहां हूं वहीं रहने दे।'

न्याय के लिए न्यायालय के द्वार पर दस्तक दी जा सकती है। पर बदूक की भाषा बोलने वाले क्या स्वय अन्याय के पथ पर नहीं बढते है? न्याय की मांग से पहले उसके सभी पहलुओ पर चितन अपेक्षित है।

प्रश्न : महावीर ने जिस भूमि पर अहिसा की अमृत-वृष्टि की, उस भूमि पर हिसा का खुला रूप देखकर कुछ लोग पूछ रहे है कि वहा महावीर की अहिंसा का वर्चस्व क्यों नहीं है? साम्प्रदायिक उन्माद या उग्रवाद के रूप मे पनप रही हिसा को निरस्त करने का कोई सरल उपाय है क्या?

उत्तर : जिस भूमि मे महापुरुष या वीतराग पुरुष उत्पन्न हुए, वह भूमि वीतरागभूमि बन जाए, यह जरूरी नहीं है। जहां महावीर ने अहिसा का उपदेश दिया, वहा कभी हिसा के बादल मंडराए ही नहीं, यह अतिकल्पना है। समस्याएं हर युग में होती है। किसी भी समस्या का समाधान उस क्षेत्र के अतीत मे झाकने मात्र से नहीं हो सकता। आज युगीन सन्दर्भो मे सही पुरुषार्थ की अपेक्षा है।

बिहार भगवान महावीर की जन्मभूमि और कर्मभूमि रहा है। वहां व्यापक दृष्टि से काम किया जाए तो परिस्थितियो मे बदलाव सभव है। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान के माध्यम से कुछ क्षेत्रों मे रचनात्मक काम शुरू हुआ है। वहा हिसा की समस्या लोक जीवन से भी अधिक राजनीति से प्रेरित है। व्यवस्थित और सही दिशादर्शन की अपेक्षा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हिसा में उलझने वाले लोगो का चिन्तन सकारात्मक हो जाए तो वहां पुन महावीर की अहिसा को प्रतिष्ठापित किया जा सकता है। इसका सबसे सरल उपाय है पूर्वाग्रह से मुक्त होकर पारस्परिक संवाद की स्थापना।

प्रश्न : श्रमिक-वर्ग हिसात्मक उपद्रवो और तोडफोडमूलक प्रवृत्तियों मे भाग लेता है, इसके पीछे कौन-सी प्रेरणा काम करती है?

उत्तर : वर्तमान औद्योगिक युग मे श्रमिक-वर्ग वहुत वडा वर्ग है। वह

वर्ग दूसरे वर्गो की अपेक्षा अधिक सक्षम और स्वावलम्बी है। उसके स्वावलम्बन का आधार है उसका अपना पुरुषार्थ। जो व्यक्ति पुरुषार्थ नहीं करते, वे प्रमाद और हीनभावना से आक्रान्त रहते है। धनिक वर्ग प्रमादी होता है तथा भिखारी हीनता का अनुभव करते हैं। श्रमिक स्वावलम्बी होते है, अत· वे उक्त दोनो प्रकार की दुर्बलताओ से मुक्त रहते है। सामाजिक जीवन-पद्धति मे यह पद्धति सबसे अधिक निर्दोष हो सकती है। फिर भी समाज एक सक्रमणशील संस्था है। उसमें ऐसी लोह दीवार नही है, जिससे एक-दूसरे के विचारो का सक्रमण न हो। इस सक्रमणशीलता से श्रमिक-वर्ग की निष्ठा और प्रामाणिकता प्रभावित होती है। वह प्रभाव दो प्रकार से होता है—अनुसरणशीलता से और विद्रोह की भावना से। श्रमिक-वर्ग मे दूसरे वर्गो के विचारो का प्रभाव सक्रान्त होता है, फलस्वरूप उनमे भी कुछ बुराइयां सक्रिय हो जाती है। सामाजिक कुरीतियो का जहा तक प्रश्न है, उनका सक्रमण अनुकरणशीलता से होता है। अप्रामाणिकता की वृत्ति चारित्रिक दुर्बलता से प्रोत्साहित होती है और अपने श्रम के शोषण-जनित विद्रोह से भी। उस समय उनके मन मे यह भाव उत्पन्न होता है कि वे श्रम अधिक करते है पर उसका फल कम प्राप्त होता है। श्रम नहीं करने वाले अमीरी भोग रहे है और श्रमिकों को अभावो से गुजरना होता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से श्रम-निष्ठा में कमी आती है। निष्ठा के अभाव गे पनपती हुई अप्रामाणिकता के प्रवाह को रोका नही जा सकता। इस दृष्टि से श्रमिको की प्रामाणिकता उनकी अपनी चरित्रनिष्ठा और सामाजिक सक्रमण—इन दोनो पर निर्भर है।

प्रश्न : गोहत्या-बदी के लिए आदोलनो का औचित्य?

उत्तर : गोहत्या-बंदी का प्रश्न राष्ट्रीय उपयोगिता का प्रश्न है। गाय जैसे उपयोगी और निरीह पशु की हत्या करना सचमुच मानव के कृतघ्न और स्वार्थी स्वभाव की पराकाष्ठा है। मै इस समस्या को राष्ट्रीय उपयोगिता की चेतना को प्रबुद्ध कर सुलझाने के पक्ष मे हूं।

इस समस्या को धर्म और राजनीतिक आदोलनो के परिपार्श्व मे सुलझाने का प्रयत्न नई उलझने उत्पन्न करने जैसा लग रहा है। गाय के प्रति जो सहज सहानुभूति है, वह उत्तेजनात्मक आदोलनो से कम होती प्रतीत हो रही है। मनुष्य मे क्रूरता की कमी और अहिसा या करुणा विकसित हो, यह दिशा शिक्षा के साथ नैसर्गिक ढग से प्राप्त होनी चाहिए। इससे गोहत्या जैसे अनेक क्रूर कर्म सरलता से समाप्त हो सकते है। इस सन्दर्भ मे एक बात और ध्यान देने की है कि केवल गोहत्या को लेकर ही आन्दोलन क्यो चलाया जाए? गाय हो, भैस हो या कोई अन्य पशु हो। पशु मात्र की हत्या वन्द होनी चाहिए।

प्रश्न : वैज्ञानिक अनुसधान के आधार पर दही आदि पदार्थो मे जीव माने जाते है। धर्मक्षेत्र मे अहिंसा की दृष्टि से इस सम्बन्ध मे क्या विचार किया गया है?

उत्तर : विज्ञान और जैन आगमो की कई वातो मे सामजस्य नही होने के कारण विज्ञान-सम्मत हर तथ्य को सहसा स्वीकृति नही मिल पाती। विज्ञान केवल दही ही नही, और भी अनेक पदार्थो मे जीव मानता है। इस स्थिति मे अनुसधान की अपेक्षा को नकारा नही जा सकता, किन्तु केवल विज्ञान को ही आधार मानकर कुछ छोडने या स्वीकार करने मे कठिनाई है।

अहिसा का आधार शास्त्र है। हिसा और अहिंसा का संवध जीव-वध और अवध की अपेक्षा प्रमाद और अप्रमाद से अधिक है। प्राणी की असत् प्रवृत्ति से किसी का प्राण वियोजन हो या नही, वह हिसा है। अप्रमाद का अहिसा के साथ गहरा अनुवध है। इसी कारण प्रमाद हिसा से अनुवन्धित है। धर्म के क्षेत्र मे अहिसा का मूल्य है। आलोच्य प्रश्नो को काल-लब्धि के परिपाक पर छोडकर प्रमाद-परिहार की ओर विशेप लक्ष्य रखा जाए, यह अपेक्षित है।

□□